UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ४ अङ्क १

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, २०१४

सम्पादक :
प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board
Prof. Kamaleshdatta Tripathi
Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra
Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma
Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Varanasi (U.P.)

वर्ष ४ अङ्क १

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2014

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

सम्पादकीय i-ii

शोधलेख

१.	शाक्तमत में श्रीयन्त्र और सृष्टि उन्मेष का रहस्य	महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथजी कविराज	1–14
२.	करपात्री जी के द्वारा न्यायलीलावतीकार के शक्तिपदार्थ खण्डन का खण्डन एवं शक्तिपदार्थ की प्रमाणों से सिद्धि	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	15–32
३.	अन्तर्याग और मानस–पूजा का रहस्य	स्वामी निगमानन्द सरस्वती परमहंसदेव	33–39
४.	शिवमहिम्न: स्तोत्र का आगमिक स्वरूप और साधना	डॉ. श्रीरुद्रदेवजी त्रिपाठी	40–45
५.	सगुणोपासना एवं शिवतत्त्व का महत्त्व	प्रो. युगलकिशोर मिश्र	46–47
६.	कामकला : एक तान्त्रिक परिभाषा	डॉ. हर्षदेव माधव	48–53
७.	ॐकार का महत्त्व : इतिहास और विज्ञान	देवर्षि कलानाथशास्त्री	54–60
८.	तान्त्रिक दृष्टि में नाद और नवनाद	प्रो. बीना अग्रवाल	61–66

९.	पाञ्चरात्रागम के परिप्रेक्ष्य में जयाख्यसंहितोक्त मन्त्रविमर्श	डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	67-75
१०.	वैदिकतान्त्रिककर्मकाण्डयो: स्वीकार्यता	डॉ. सुभाषशर्मा	76-81
११.	वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में विश्ववन्द्य अभिनवशङ्कर श्रीकरपात्रस्वामी का अभिमत	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	82-88
१२.	रामचरितमानस में शक्तितत्त्व	डॉ. सुषमा शुक्ला	89-93

दुर्लभकृति

१३.	त्रिपुरारहस्योक्ता श्रीविद्यागीता	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	94-104

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज का 'शाक्तमत में श्रीयन्त्र और सृष्टि उन्मेष का रहस्य' विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबन्ध संगृहीत है जिसमें पूज्य कविराज जी ने शाक्त मत के अनुसार सृष्टि-स्थिति तथा संहार का रहस्य उद्घाटित करते हुए श्रीचक्र के बिन्दु से लेकर भूपुरतक के रहस्यों का अद्भुत व्याख्यान प्रस्तुत किया है जो आगमिक साधनों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी के द्वारा न्यायलीलावतीकार के शक्तिपदार्थ खण्डन का खण्डन एवं शक्तिपदार्थ की प्रमाणों से सिद्धि विषयक विवेचन पर द्वितीय लेख प्रस्तुत किया गया है। इस लेख में पूज्यपाद ने अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए तार्किकों के द्वारा प्रस्तुत दूषणों का युक्तिपूर्ण निरसन तथा वैदिक प्रमाणों के आधार पर शक्ति तत्त्व की शास्त्रीय प्रतिष्ठा सुस्थापित की है।

'अन्तर्याग और मानस-पूजा का रहस्य' विषयक आलेख में स्वामी निगमानन्द जी ने इनकी साधना में श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए इन अन्तर्याग की विधि तथा तात्पर्य को सुस्पष्ट किया है। मानस जप की आगमिक व्याख्या भी विवेचित की है।

शिवसाधकों में अतिप्रसिद्ध पुष्पदन्त के स्तोत्र शिवमहिम्न: स्तोत्र का आगमिक स्वरूप और साधना के विधान को ब्रह्मलीन पूज्य श्री रुद्रदेव जी त्रिपाठी के द्वारा अपने लेख में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'सगुणोपासना एवं शिवतत्त्व का महत्त्व' विषयक आलेख में सगुणोपासना का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए शिव का त्रिदेवत्व एवं एकत्व सिद्ध करने का अनुपम प्रयास किया गया है। आगमिक परम्परा के प्रतिपाद्य अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की शास्त्रीय विशेषता भी साथ-साथ में प्रकट की गई है।

'कामकला : एक तान्त्रिक परिभाषा' लेख में तन्त्रागम में स्वीकृत कामकला के गुप्त रहस्य को समुद्घाटित करने का प्रामाणिक कार्य किया गया है।

'ॐकार का महत्त्व : इतिहास और विज्ञान' विषयक निबन्ध में ॐकार का ऐतिहासिक अनुसन्धान करते हुए इसकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गई है तथा ॐकार की सर्वशास्त्र एवं सर्वसम्प्रदाय ग्राह्यता को सिद्ध करते हुए इसकी सार्वभौमिक मान्यता को सिद्ध करने का अनुपम कार्य सम्पन्न हुआ है।

‘तान्त्रिक दृष्टि में नाद और नवनाद’ विषयक महत्त्वपूर्ण आलेख में ॐकार के ध्वन्यात्मक स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण आगमिक प्रमाणों के आधार पर सुसम्पन्न हुआ। ॐकार के विविध भेदों को प्रामाणिक रहस्य का उद्घाटन भी इस लेख की विशेषता है।

‘पाञ्चरात्रागम के परिप्रेक्ष्य में जयाख्यसंहितोक्त मन्त्रविमर्श’ विषयक लेख में वैष्णव तन्त्र में सिद्धान्तित मन्त्र के स्वरूप तथा आधारों का विस्तार से सुस्पष्टीकरण हुआ है।

‘वैदिकतान्त्रिककर्मकाण्डयो: स्वीकार्यता’ नामक लेख में वेद एवं तन्त्र के भेद परक स्वरूप के कारण तथा निदान की समस्या का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत हुआ है।

‘वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में विश्ववन्द्य अभिनवशङ्कर श्रीकरपात्रस्वामी का अभिमत’ में परमगुरु करपात्री जी की महनीय वैदुष्य एवं अलौकिक तार्किक प्रतिभा के द्वारा वेदों के अपौरुषेयत्व के मण्डन का निरूपण किया गया है।

‘रामचरितमानस में शक्तितत्त्व’ विषयक आलेख में सीताराम का एकत्व सिद्ध करते हुए शक्ति महिमा को परिपुष्ट करने का अनुसन्धान है।

‘त्रिपुरारहस्योक्ता श्रीविद्यागीता’ में *त्रिपुरारहस्य* के ज्ञानकाण्ड में अनुस्यूत श्रीविद्यागीता मूल संस्कृत हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत की गई है, जिसमें त्रैपुर सिद्धान्तानुसारी ज्ञान के अलौकिक एवं तान्त्रिक स्वरूप का प्रतिपादन हुआ। जो तन्त्र साधक के लिए अनिवार्य रूप में ज्ञातव्य एवं मननीय है।

यह अंक न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अंक का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का आगामी अंक गुरुवर दत्तात्रयानन्दनाथ जी की जयन्ती के शुभ अवसर पर फरवरी, 2015 में प्रकाशित होगा। अत: शास्त्र साधना के क्षेत्र में रत सुधी विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पत्रिका में प्रकाशनार्थ श्रीविद्या, तन्त्र आगम आदि विषयों से सम्बद्ध वैदुष्यपूर्ण शोध लेख श्रीविद्यासाधना पीठ के पते पर प्रेषित कर पत्रिका के पल्लवन एवं उन्नयन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

शाक्तमत में श्रीयन्त्र और सृष्टि उन्मेष का रहस्य

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथजी कविराज

विश्वसृष्टि के विषय में प्राचीन तथा नवीन साहित्य में विभिन्न प्रकार की आलोचनाएँ दिखाई देती हैं। प्रत्येक प्रस्थान में आलोचना आलोचक के दृष्टिकोण के अनुसार की गई है। इसीलिए, बाह्यदृष्टि से भिन्न-भिन्न आलोचनाओं में भेद मालूम पड़ता है। परन्तु, समन्वय-दृष्टि से देखने पर उस भेद के अन्तर में अभिन्नता भी दिखाई देगी। प्रस्तुत निबन्ध में शाक्त दृष्टिकोण से दो-चार बातें लिखी जा रही हैं। इन्हें शाक्तमत की एक विशिष्ट धारा के अनुसार समझना चाहिए, क्योंकि शाक्त मत में भी सम्प्रदाय-भेद से दृष्टिकोणों में भेद है।

शाक्त आचार्यों का कथन है कि विश्वसृष्टि तथा व्यक्तिदेह की सृष्टि के मूल में एक ही व्यापार है। योगियों की दृष्टि में श्रीचक्र का आविर्भाव उसी का एक भेदमात्र है, अर्थात् चक्र का उदय, जगत् की 'सृष्टि' और आत्मा का देहादियुक्त होकर प्रकाशित होना एक ही बात है। शाक्तमतानुसार समग्र जगत् के मूल में जो अखण्ड सत्ता है, वह विश्व का उपादानस्वरूप है तथा निमित्तस्वरूप भी है। वह निर्विकार है, उसमें न ह्रास है और न वृद्धि तथा वह अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश एवं चिदानन्दस्वरूप है। शाक्त दृष्टि में 'स्थिति' का नाम है शिवभक्ति-सामरस्य। यह अद्वैत अवस्था की स्थिति है, अर्थात् वह शिवरूप में निष्क्रिय है, उदासीन है तथा निरपेक्ष द्रष्टामात्र है; एवं शक्तिरूप में वही भावी विश्व का उपादान और पूर्ण स्वातन्त्र्य-रूप है। शिव तथा शक्ति अभिन्न होने पर भी शिव तटस्थ है तथा शक्ति संकोचप्रसरणशीला है।

प्राचीन योगियों की पद्धति से परमतत्त्व-व्याख्यान का मूल ही है जागतिक सत्ता का विश्लेषण। वे लोग कहते हैं—व्यवहारदृष्टि में जिसे हम शिव कहते हैं, वह भी एक तरह से शक्ति का ही एक रूप है; क्योंकि वास्तव में जो शिव हैं, जिसको किसी प्रकार से शक्ति नाम नहीं दिया जा सकता, उसके विषय में कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है; क्योंकि—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।

जगत् के मूल में स्थूल दृष्टि से इस शक्ति के ही दो विरुद्ध स्वरूपों के खेल विद्यमान हैं। ये दो शक्तियाँ स्थिति-विशेष में समरस तथा अद्वयभाव से अविभक्तरूप में विद्यमान रहती हैं। दूसरी स्थिति में ये परस्पर विषम भाव लेकर एक-दूसरे के ऊपर क्रिया करने लगती है। इन दो शक्तियों में एक का नाम अग्नि और दूसरी

का नाम सोम है। अग्नि तापमय है और सोम शीतल; अग्नि दु:खप्रद है, पर सोम आनन्ददायक है। अग्नि मृत्युरूप है; क्योंकि काल अग्नि का ही रूप है और सोम अमृतरूप है। अग्नि अविभक्त वस्तु को विभक्त करके प्रकाशित करती है, परन्तु सोम विभक्त या पृथक् खण्डों को अविभक्तरूपेण, अर्थात् एकभाव से संहत करता है। अग्नि प्रकाशस्वरूप से तथा सोम विसर्ग रूप से प्रकाशित होता है। अग्नि तथा सोम जब साम्यावस्था में स्थित रहते हैं, तब न अग्नि की क्रिया का प्रकाश होता और न सोम की क्रिया का। अग्निक्रिया का नाम है संहार और सोमक्रिया का नाम है सृष्टि। साम्यावस्था में अग्नि तथा सोम संहार तथा सृष्टि कुछ भी नहीं करते। यही 'स्थिति' का स्वरूप है। इसका पारिभाषिक नाम है रवि या सूर्य। यह अग्नि तथा सोम की नित्य समरस तथा अद्वय स्थिति है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि तथा संहार के मूल में जो अखण्ड शक्ति विद्यमान है, उसका नाम है सूर्य। अग्नि तथा सोम की विषमावस्था में जब सोम का प्राधान्य होता है, तब संहार होता है। तन्त्र में सूर्य कामतत्त्व कहा गया है : **'कामाख्यो रवि:'**। इस काम की, अर्थात् साम्यरूपी सूर्य की एक कला है अग्नि और दूसरी कला है चन्द्र। यही कामकला-तत्त्व के अन्तर्गत बिन्दुत्रय का विचरण है। साम्यावस्था में शुद्ध स्थिति रहती है, परन्तु विषम अवस्था में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रकाश रहता है।

अग्नि के संस्पर्श से विगलित होकर सोम का क्षरण होने लगता है। इस अवस्था में अग्नि का स्पर्श रहने पर भी प्राधान्य रहता है सोम का ही। इसी क्षरण से सृष्टि का उन्मेष होता है। तन्त्रमतानुसार हार्द्ध-कला नाम से चित्त-कला का उदय इसी प्रकार होता है; क्योंकि वस्तुत: चित्त निष्कल है। दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि अग्नि के प्रभाव से सोम के वाष्परूप में परिणत हो जाने पर सोमकला अव्यक्त हो जाती है। यह संसार का द्योतक है। इस अवस्था में सोम के रहने पर भी अग्नि की क्रिया ही प्रधान रहती है; अर्थात् अग्नि तथा सोम के संसर्ग से सोम के प्राधान्यानुसार सृष्टि होती है तथा अग्नि के प्राधान्यानुसार संहार होता है।

दार्शनिकों के अनुसार, यह विश्व कुछ मूल तत्त्वों से बना हुआ है। शाक्तगण तथा शैवगण अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि इन तत्त्वों की कुल संख्या 36 है। इन तत्त्वों से ही समग्र विश्व की रचना हुई है। माया के भीतर और माया के बाहर, परन्तु विशुद्ध माया के भीतर असंख्य भुवनावली विद्यमान है। विश्लेषण करके देखने से प्रतीत होगा कि इन सब भुवनों में ये 36 तत्त्व ही विद्यमान हैं, परन्तु स्तरों की विभिन्नता के अनुसार सन्निवेश में तारतम्य है। किसी स्तर में एक तत्त्व का प्राधान्य है और किसी में उससे भिन्न दूसरे तत्त्व का प्राधान्य है। स्थूल दृष्टि से इन सब तत्त्वों को नित्य कहा जाता है और यह युक्तिसंगत भी है; क्योंकि व्यवहारमूलक ऊर्ध्व तथा अधोजगत् के मूल में ये सब तत्त्व नित्य ही रहते हैं। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इन तत्त्वों में भी नित्यत्व नहीं है। सभी तत्त्व कलारूप उपादान से प्रकट हुए हैं, इसीलिए प्रत्येक तत्त्व ही कलामय है। तत्त्व-विश्लेषण करने पर अन्त में एकमात्र कला ही अवशिष्ट रह जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि कला से तत्त्वों का आविर्भाव हो सकता है, यह सत्य है, परन्तु, स्वयं कला का उद्भव कहाँ से होता है और इसका स्वरूप क्या है? पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि बिन्दु के क्षोभ से कला का

उद्‌गम होता है। सृष्टि के लिए चन्द्रकला अपेक्षित है। यह पूर्ववर्णित सोमबिन्दु का अग्निबिन्दुस्पर्शनिमित्तक क्षोभ से जो क्षरण होता है, उसका फल है। इससे यह भी पता चलता है कि पूर्वोक्त सोमबिन्दु ही विश्व का मूल उपादान है। वही तत्त्वों का प्रसव करते हुए भुवनों के उद्भव का कारण बन जाता है।

पराशक्ति परमशिव के साथ नित्य और अभिन्न है। जब यह परमशिव का अथवा आत्मा का स्फुरण देखने की इच्छा करती है, तब क्रमश: सृष्टि का उदय होता है। यह महाशक्ति के गर्भ में समग्र विश्व महाशक्ति के साथ अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है। यह महाशक्ति से पृथक् तो है नहीं, पृथग्रूपेण प्रतिभासमान भी नहीं होता। परन्तु, महाशक्ति की सृष्टि-इच्छा जाग्रत् होने पर विश्व से अविभक्त रहती हुई भी वह विभक्तरूपेण प्रतीयमान हो सकती है। तान्त्रिक आचार्य इस क्रिया का उल्लेख विसर्गक्रिया के नाम से करते हैं। शक्ति में कार्य का अविभक्त रूप में विद्यमान रहना ही बिन्दु का व्यापार है और उसका अविभक्त रहते हुए भी विभक्तरूपेण प्रतिभासमान होना विसर्ग का व्यापार है। जिसे सृष्टि कहा जाता है, वह विसर्गव्यापार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योगियों का कहना है कि इस सृष्टिव्यापार में जितने स्तरों का स्फुरण होता है, उनमें पहले का नाम है 'बिन्दु' और दूसरे का 'त्रिकोण', जिसमें तीन भुजा और तीन कोण हैं और सभी परस्पर समान हैं। उसके बाद है 'अष्टकोण'। तदुपरान्त क्रमश: आभ्यन्तरिक 'दशकोण' और बाह्य 'दशकोण', फिर 'चतुर्दशकोण', 'अष्टदल' और 'षोडशदल' हैं। सबके अन्त में हैं 'तीन वृत्त' और एक 'चतुरस्र' अथवा चतुष्कोण। यह चतुष्कोण सृष्टि के बाहर का प्राचीर है। यहीं सृष्टि का अवसान है। क्षुद्र सृष्टि तथा विराट् सृष्टि, दोनों में यही नियम है। चतुरस्र को तान्त्रिक परिभाषा में 'भूपुर' कहा जाता है। बिन्दु से चतुरस्र-पर्यन्त या चतुरस्र से बिन्दु-पर्यन्त विश्व का विस्तार है। चाहे किसी प्रकार की सृष्टि क्यों न हो, उसके बाहर चतुरस्र तथा भीतर बिन्दु रहेगा ही। ऊपर वर्णित क्रम 'श्रीचक्र' का है, परन्तु चक्रमात्र का मूल रहस्य इसी प्रकार का है।

शिव प्रकाशात्मक है और शक्ति विमर्शस्वरूपा है। शिव चित्‌रूप है और शक्ति पूर्ण अहन्तानिमित्तक आनन्दस्वरूप है। अतएव, मूल शिवशक्ति चिदानन्दमय स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। समग्र सृष्टि का जो मध्यबिन्दु है, वही उसको सर्वोच्च बिन्दु है। इसी बिन्दु से सर्वप्रथम त्रिकोण का आविर्भाव होता है, जिसके रहस्य का उद्‌घाटन महायोगी को छोड़कर दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। समग्र विश्व के केन्द्र में महाशक्ति की आत्मप्रकाशभूमि के रूप में इस त्रिकोण की अभिव्यक्ति होती है। कामकला का जो साम्यभाव है, अर्थात् जिसको काम या सूर्य कहा जाता है, उसकी स्थिति अखण्डित है। उसका साम्यभङ्ग कथमपि नहीं होता। वह महास्थितिस्वरूप है, परन्तु कामकला का जो वैषम्य-भाग है, उस तरफ निरन्तर सृष्टि-संहार का खेल चल रहा है। सृष्टि तथा संहारचक्र के भीतर तथा संहार और सृष्टिचक्र के भीतर आभासरूप में स्थित बिन्दु का पता चलता है। अतएव सृष्टि, स्थिति और संहार निरन्तर ही चल रहे हैं, यह मानना पड़ेगा। भीतर प्रवेश करने पर प्रतीत होगा कि जो सृष्टि का मूल है और जहाँ संहार का अवसान है, वहाँ भी निरन्तर यह प्रक्रिया चल रही है; अर्थात् तिरोधान या निग्रहशक्ति का खेल तथा अनुग्रहशक्ति का खेल विश्व की पृष्ठभूमि में निरन्तर स्वाभाविक रूप से चल रहा है। एक अपने स्वातन्त्र्य-बल से अपने को नानारूपों में प्रकाशित करते हैं। यही

एक का तिरोभाव है, जिससे नानात्व का आविर्भाव होता है। प्राचीन वेदान्त के दृष्टिकोण से मूल अविद्या के आवरण तथा विक्षेप का केन्द्र इस स्थान में है। जीव जब अपने मूल एकत्व-रूप में प्रत्यावर्त्तन करता है, तब समझना चाहिए कि यह अनुग्रहशक्ति का खेल है। बिना अनुग्रहशक्ति की क्रिया के जो संहार होता है, वह वास्तव में संहार नहीं है; क्योंकि उसमें संस्कार तथा जडत्व रह जाता है और संहार के अनन्तर अभिनव सृष्टि के आवर्त्तन में लौट आना पड़ता है। यह संहार वास्तव में आत्मस्वरूप में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। यह केवलमात्र काल का खेल है।

सृष्टि के मूल में बिन्दु है। यही महाबिन्दु के नाम से परिचित है। प्रकाश अथवा शिवांश और विमर्श अथवा शक्त्यंश जब समभाव में अधिष्ठित रहते हैं, तब 'बिन्दु' नाम से अभिहित होते हैं। किन्तु, इसके भीतर एक रहस्य यह है कि स्थूल सृष्टिव्यापार के पूर्व चित् शक्ति का खेल विद्यमान रहता है। चित् शक्ति अपने स्वरूप, अर्थात् आत्मा की भित्ति बनाकर उसी के ऊपर विश्व की रचना करती है, अर्थात् उसमें निहित अव्यक्त विश्व को पहले परिस्फुट करती है, तदनन्तर उसे इदंरूपेण ग्रहण करती है। इस प्रकार से प्रकाश की भित्ति के ऊपर प्रकाशमान चित्ररूपी विश्व का इदंरूपेण भान होने लगता है जो विश्व पूर्ण अहं के भीतर अहंरूप से विद्यमान था, वही आभास-रूप में इदम्प्रतीति का विषय बनकर चित्ररूपेण उन्मीलित होता है। स्थूल सृष्टि की इच्छा घनीभूत होने पर यह आभासरूपी विश्व स्थूलरूप में परिणत होता है। इसमें क्रियाशक्ति पर्यन्त कई शक्तियों का खेल रहता है; क्रियाशक्ति के व्यापार के बिना आभास घनीभूत साकार रूप में परिणत नहीं हो सकता।

हम बिन्दु की बात कह चुके हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में एक ही बिन्दु त्रिधा विभक्त होकर तीन बिन्दुओं के रूप में आविर्भूत होता है, अर्थात् समष्टिरूप में स्थित एक ही बिन्दु व्यष्टि में तीन बिन्दुओं के रूप में परिणत हो जाता है। प्रकाशांश तथा विमर्शांश—दोनों का मूल ही सृष्टि का मूल है। प्रकाशांश को 'अम्बिका' तथा विमर्शांश को 'शान्ता' नाम दिया जाता है। अम्बिका वामा, ज्येष्ठा और रौद्री इन तीन शक्तियों के रूप में प्रकाशित होती है। वैसे ही शान्ता भी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप में अभिव्यक्त होती है। जहाँ अम्बिका तथा शान्ता साम्यभाव में स्थित रहती है, उसका नाम है—मूल बिन्दु अथवा समष्टिबिन्दु। तीन व्यष्टिबिन्दुओं को भी वैसे ही समझना चाहिए। इन तीन बिन्दुओं में जो पहला बिन्दु है, वह वामा तथा इच्छा का साम्यरूप है, द्वितीय बिन्दु ज्येष्ठा तथा ज्ञान का साम्यरूप है, तृतीय बिन्दु रौद्री तथा क्रिया का साम्यरूप है। कहना न होगा कि ये तीन बिन्दु ही मूल त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं और जिसे मूल बिन्दु कहा गया है, वही मूल त्रिकोण का मध्यबिन्दु है। अम्बिका में शान्ता का साम्य होने पर मूलबिन्दु का आविर्भाव होता है। इसी का नाम है 'परावाक्'। परमात्मा या सदाशिव इसी मूल बिन्दु के अवस्थाविशेष का नाम है। इसी प्रकार, वामा और इच्छा में साम्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है, उसका नाम है 'पश्यन्ती वाक्;' ज्येष्ठा तथा ज्ञान के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है, उसका नाम है मध्यमा वाक् एवं रौद्री तथा क्रिया के तादात्म्य से जो बिन्दु होता है, उसका नाम है 'वैखरी वाक्'। इस त्रिकोण के आविर्भाव को ही आदि अथवा मूल त्रिकोण समझना

चाहिए। इसमें मध्यबिन्दु ही परामातृका है। शेष तीन दिशाओं के तीन बिन्दुओं को पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी से अभिन्न समझना चाहिए। इस त्रिकोण की वामदिशा की वक्ररेखा पश्यन्ती वाक् का प्रसार है, ऊर्ध्व या सम्मुख की सरल रेखा मध्यमा वाक् का प्रसार है और दक्षिण दिशा की प्रत्यावर्त्तनमुखी रेखा वैखरी वाक् है। यही योनिस्वरूप विश्वमातृका का संक्षिप्त परिचय है। शब्दब्रह्म-विद्गण तथा योगी इसीकी भावना करते हैं।

सृष्टितत्त्व और श्रीचक्र

शाक्तदृष्टि के अनुसार, सृष्टि का उन्मेष कैसे होता है? इस पर विवेचन कर दिया गया है। यह विषय इतना जटिल तथा गहन है कि संक्षेप में इसके रहस्य का उन्मीलन होना कठिन है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थसृष्टि शब्द के अधीन है, अर्थात् सृष्टि का यह क्रम है कि पहले ज्ञान से शब्द का उद्भव होता है। तदनन्तर, उससे अर्थ का आविर्भाव होता है। ज्ञान से जिस सत्ता की आत्मरूप प्रतीति होती है, शब्द में उसी का अनात्मरूप से स्फुरण प्रतीत होता है। इसके अनन्तर शब्द से अर्थ के स्तर में पहुँचने पर सृष्टि-क्रिया पूर्ण होती है। रहस्यवित् आचार्य भर्त्तृहरि ने कहा है कि शब्दतत्त्व से ही अर्थ का आविर्भाव होता है। अनादि और अनन्त शब्दतत्त्व को ही उन्होंने मूल तत्त्व माना है। वही अक्षरस्वरूप है। वही अर्थरूप से विवर्त्तित होता है। इस विवर्त्त से ही जगत् की सृष्टिप्रक्रिया चलती रहती है। जिस सिद्धान्त के अनुसार शब्दब्रह्म का सिद्धान्त माना जाता है, उसके अनुसार शब्दातीत परब्रह्म से, शब्द से अर्थ स्वभावत: ही प्रकट होता है।

यहाँ जिस धारा की आलोचना की जा रही है, उससे भी शब्द के बाद ही अर्थ का आविर्भाव माना जाता है, अर्थात् अर्थ की स्फूर्त्ति होती है शब्द से और शब्द का स्फुरण होता है शब्दातीत चैतन्य से। शब्द ही अर्थरूप में परिणत होता है। वास्तव में शब्द भी शक्ति ही है और अर्थ उसका बाह्य विकासमात्र है।

हम इस विषय को और स्पष्ट रूप से समझने का यत्न करते हैं। मूल में जो निष्कल परमपद है, वही परमशिव है, वही पराशक्ति या महाशक्ति है और वही विश्व का परमस्वरूप है। वास्तव में, वह एक अखण्ड सत्ता है। उस स्थिति में बिम्ब का महाशक्ति के साथ अभेद है। महाशक्ति परमशिव से अभिन्न है। वास्तव में, स्वातन्त्र्य या शुद्ध स्पन्द ही महाशक्ति का स्वरूप है। इसलिए, उसका सम्बन्ध भी एक प्रकार से नित्ययोग ही कहा जा सकता है। एक दृष्टि से यदि देखा जाय, तो नि:संकोच यह कहा जा सकता है कि इस स्पन्दहीन सत्ता में नित्य ही स्पन्दन हो रहा है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि नि:स्पन्द सत्ता का नि:स्पन्दनत्व स्पन्दन होने पर भी बन्द नहीं होता। यह बुद्धि का अगम्य विषय है, बुद्धि से इसकी धारणा नहीं हो सकती। किन्तु शुद्धात्मा इसको स्वानुभव में चढ़ा सकते हैं; क्योंकि प्रमाण का गोचर न होने पर भी यह नित्य स्वप्रकाश है।

शुद्ध स्पन्दन की बहिरुन्मुखता के साथ-ही-साथ उस मूल अविभक्त एक सत्ता में वैचित्र्य का मानों भान होने लगता है। तब शिवशक्ति और विश्व कुछ-कुछ पृथक् जैसे भासने लगते हैं। पर, इनका नित्ययोग मिटता नहीं। उस स्थिति में शिव मानों शक्त्युन्मुख होते हैं और शक्ति होती है बहिरुन्मुख। अथवा, यों कहना चाहिए कि शिव के अखण्ड स्वरूप में सांशता व्यक्त होती है, जिससे उनका एक अंश उनसे युक्त रहने पर भी

पृथक्-सा मालूम पड़ता है। इस अंश का नाम है शक्ति। परन्तु, शक्ति भी सांश होती है। पूर्ववत् उसका भी एक अंश उससे युक्त रहकर पृथक्-सा हो जाता है। इस अंश का नाम है विश्व। यह शक्ति के गर्भ में प्रकट होता है और शक्ति से युक्त रहता भी है। इसे एक दृष्टिकोण से शक्ति का गर्भाधान समझा जा सकता है। इसके अनन्तर जब विश्व शक्तिगर्भ से पृथक् हो जाता है, तब उसका नाम पड़ता है सृष्टि। यह प्रसव-व्यापार के सदृश एक व्यापारविशेष है। इसमें शक्ति सृष्टि करती है एवं शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। अथवा शिव को कर्त्ता मानकर शक्ति को सहकारी या करण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

अतिप्राचीन आगमों में सृष्टि के प्रसङ्ग में मायिक सृष्टि के पहले की सृष्टि आदिसर्ग के रूप में वर्णित है। यह आदिसर्ग परमेश्वर की सृष्टिविषयक इच्छा से प्रकट होता है और यह परमेश्वर के निज स्वरूप से भासमान रहता है। यही शिव से अभिन्न विश्वरूप है। मायिक सृष्टि की इच्छा होने पर परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से आत्मरूप दर्पण में अनन्त ग्राह्य और ग्राहकों को अविच्छिन्न रूप से प्रतिभासित करते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि आदिसर्ग में ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं रहता। ये सब ग्राह्य और ग्राहक आभासरूपी भाव हैं। ये परमेश्वर के निज अङ्ग कहे जा सकते हैं। मायिक सृष्टि में ये सब विचित्र भावों में से जो-जो भाव देह, प्राण और बुद्धि से शून्य रहते हैं, उनमें अपने अहन्त्वरूप कर्त्तृत्व का अर्पण कर उन्हें ग्राहकरूप में परिणत करते हैं। उनसे अतिरिक्त शब्द, स्पर्शादि भावों को इदम्-प्रतीति के विषय होने के कारण, अचिद्रूप में आभासित करते हैं। ये सब पूर्वोक्त ग्राहकों के ग्राह्य बन जाते हैं। इसीलिए, कर्त्तत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्म देहादि में प्रकट होते हैं एवं कार्यत्व, ज्ञेयत्वादि धर्म शब्दादि विषयों में रहते हैं। इसीलिए, एक की अजड़रूप में और दूसरे की जड़रूप में प्रतीति होती है। मूल में जड़ और अजड़ में कोई भेद नहीं रहता। इसमें अनन्त वैचित्र्य और अनन्त तारतम्य भी है। वे शब्दादि जड़ों में भी हैं और देहादि अजड़ों में भी हैं। अजड़ों का वैचित्र्य सन्तानभेद से तो होता ही है, इसके अतिरिक्त बन्धन के तारतम्य से भी होता है। प्रमाताओं का संकोच विभिन्न प्रकार का है और उनकी गतियाँ भी विभिन्न प्रकार की हैं।

शाक्तदृष्टि से आदि स्पन्दन का प्रसर यों है : मूल में जो निष्कल और नि:स्पन्द सत्ता है, स्पन्दन के सम्बन्ध से वही शिव-शक्ति के रूप में भासमान होती है। इसका मूल है बिन्दु। वह ब्रह्मबिन्दु भी कहा जाता है। परन्तु, वह ब्रह्मबिन्दु नहीं है। सृष्टि की उन्मुख अवस्था का नाम है बिन्दु। वह प्रपञ्चहीन और निराकार है। वर्णमाला में उसका प्रतीक 'अ:' है, अर्थात् शून्याकार विसर्गान्त बिन्दु। वास्तव में, यह स्पन्दन से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह प्रकाशस्वरूप है। ब्रह्म भी प्रकाशस्वरूप है, परन्तु यह ब्रह्म नहीं है; क्योंकि इसमें स्फुरत्तारूप लहरी है। ब्रह्म में वह नहीं है। यह सामरस्यस्थिति या काम है, जो कि सृष्टि का प्रवर्त्तक है। आगमों की परिभाषा में इसका नाम 'रवि' है। क्षोभ-अवस्था में जब इसके साम्य का भङ्ग होता है, तब दो बिन्दु पृथक् हो जाते हैं। उनमें से एक बनता है 'अग्नि' और दूसरा बनता है 'सोम'। अग्नि और सोम की साम्यावास्था ही काम या रवि है। वैषम्यावस्था में अग्नि और सोम पृथक्-पृथक् रहते हैं। साम्यभङ्ग होने पर अग्नि की क्रिया पृथक् होती है और सोम की क्रिया भी पृथक् होती है। अग्नि सक्रिय होकर जब सोमबिन्दु का

स्पर्श करती है, तब सोमबिन्दु विगलित होकर क्षरित होने लगता है। दूसरी ओर सोम जब सक्रिय होकर अग्निबिन्दु का स्पर्श करता है, तब अग्नि प्रदीप्त होकर सोम का शोष करती है। सोम के क्षरण से सृष्टि होती तथा क्षरण बन्द होने पर संकार होता है। संहारकाल में सोम का क्षरण नहीं होता, आहुति होती है। आहुति में संहार होता है और क्षरण में सृष्टि होती है। स्थिति में आहुति और क्षरण दोनों साथ-ही-साथ चलते रहते हैं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि स्थिति में आहुति भी नहीं होती और क्षरण भी नहीं होता।

साम्यरूपी कामबिन्दु के विषय में पहले कहा जा चुका है। उसमें दो कलाएँ हैं—एक है अग्निरूपी, जिसका स्वरूप रक्तवर्ण बिन्दु है और दूसरा है सोम अथवा शुक्लवर्ण बिन्दु। इस महाबिन्दु से बैन्दव चक्र या मध्य चक्र की रचना होती है। इसका उपादान पूर्वोक्त क्षरित अग्निसृष्ट सोमधारा है, जिसकी चित्कला या हार्द्धकला के नाम से प्रसिद्धि है। यह सोमप्रधान होने पर भी अग्निषोमात्मक है।

इस मध्य चक्र या मध्य त्रिकोण के दो पक्ष हैं—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर त्रिकोण पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन तीन मातृकाओं से रचित है। परा, मातृका या परा वाक् से इन तीन मातृकाओं का उद्भव होता है। बाह्य चक्र वैखरीरूप है। यह तत्त्वात्मक है। यही विश्व है।

जिस स्थिति में शिव और शक्ति सर्वथा अभिन्न रहते हैं, वह निष्कल है। उसमें किसी प्रकार का भी अंश नहीं है। उस स्थिति में शिव भी निरंश हैं और शक्ति भी। यह ठीक साम्य भी नहीं है; क्योंकि उस अवस्था में दो तो है ही नहीं, एक-ही-एक है। जिस अवस्था में स्पन्दन होता है, उसमें परमशिव भी सांश हैं, और परा शक्ति भी सांश है। परमशिव का अंश ही अम्बिका नाम से और परा शक्ति का अंश शान्ता नाम से प्रसिद्ध है। अम्बिका और शान्ता का जो सामरस्य है, वही महाबिन्दु है। कामरूप महाबिन्दु भी जात है, अजात नहीं, अर्थात् वह भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है।

जब विमर्शरूपा परा शक्ति परमशिव के स्फुरण पश्यन्ती आदि के क्रम से वैखरीपर्यन्त देखना चाहती है, तब वह अपने अंश शान्ता तथा प्रकाशांश अम्बिका—इन दोनों की सामरस्यावस्था को प्राप्त होती है। उस सामरस्यावस्था का नाम है 'परा वाक्'। इस परावाक् में छत्तीस तत्त्वमय विश्व बीजरूप में रहता है। जैसे बीज में वृक्ष रहता है। कई अंशों में यह भी ऐसा ही है। जब विश्व को गर्भ से परिस्फुट या निस्सारित किया जाता है, तब उस शक्ति का नाम होता है वामा। वामा अङ्कुश के सदृश प्रतीत होती है। यह मूल त्रिकोण की वाम रेखा है। यह इच्छाशक्तिरूप पश्यन्ती है। ज्ञानशक्तिरूप ज्येष्ठा मध्यमा वाक् है। यह मूल त्रिकोण की अग्ररेखा या सरल रेखा है। अम्बिका और शान्ता शक्ति का साम्य होने पर शब्दब्रह्म का जिस रूप से प्रकाश होता है, उसका नाम है परा वाक्। इच्छा तथा वामा शक्ति के साम्य से पश्यन्ती का आविर्भाव होता है। ज्ञान तथा ज्येष्ठा शक्ति के साम्य से मध्यमा का आविर्भाव होता है। रौद्री क्रिया तथा रौद्री शक्ति की साम्यावस्था से वैखरी शक्ति का आविर्भाव होता है।

इस विवरण से ज्ञात हो जायगा कि प्रकाश की अंशभूत शक्ति अरूप है। परन्तु, जब वह विमर्श की अंशभूत शक्ति से समरस होती है, तब वह रूपमयी हो जाती है। उस रूप का नाम है वाक्। वाक् के गर्भ के

समय विश्व विद्यमान रहता है। विश्व तत्त्वात्मक है। सृष्टि के मूल में जो त्रिकोण है, वह वाङ्मय है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ पश्यन्ती आदि तीन प्रकार की वाक् हैं और मध्य बिन्दु परा वाक् है।

एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि परा वाक् में विश्व है, पर वह उसके गर्भ में है। वामा में वह प्रसूत हो जाता है, ज्येष्ठा में उसका और भी अधिक विकास हो जाता है और वैखरी में वह पूर्ण विग्रह-रूप में आ जाता है। वैखरी क्रियाशक्ति का स्तर है। उसमें साकारता सबसे अधिक स्पष्ट रहती है। अर्थात्, पश्यन्ती में अर्थ वाक् से अभिन्न रूप में आविर्भूत होता है, मध्यमा में भिन्न और अभिन्न रूप में तथा वैखरी में भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। यहाँ जिसका निर्गम होता है, वह पूर्ण है।

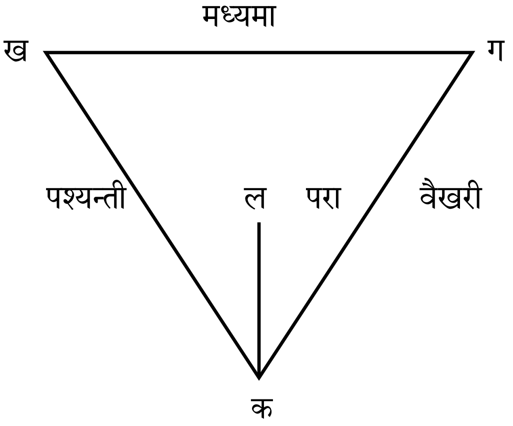

ल, क और क, ख सृष्टि, ख ग स्थिति और ग, क तथा क, ल संहार है। बिन्दु से सृष्टि होती है और संहार में, बिन्दु में ही प्रवेश होता है। यह मध्य त्रिकोण अम्बिका-रूपी है। इनकी तीन रेखाएँ 15 स्वरों से रचित है। वाम रेखा में अ से उ तक पाँच स्वर हैं, ऊर्ध्व रेखा में उसके आगे के पाँच स्वर हैं एवं दक्षिण रेखा में अन्तिम पाँच स्वर हैं। इस प्रकार, अ, से अं तक 15 स्वरों से इस त्रिकोण का निर्माण हुआ है। इस त्रिकोण में अ: यह सोलहवां स्वर है। वही सदाशिव-रूपी आसन है, जिस पर शिव-शक्ति या परमेश्वर या परमेश्वरी नित्य विराजमान रहती है। प्रलयानलरूपी शिव और चित्कलारूपी शक्ति अभिन्न स्वरूप से नित्य आसन पर अधिष्ठित रहती है। सृष्टि चित्कला से होती है और संहार होता है प्रकाशरूपी संहारानल से। चित्कला बहिर्मुख है तथा प्रकाश अन्तर्मुख है, परन्तु हैं दोनों ही अभिन्न। छत्तीस तत्त्वों का विलयन होता है उस अग्नि में और उनका आविर्भाव होता है चित्कला से। यह अग्नि वास्तव में अनुत्तर प्रकाश का ही प्रतीक है। इसकी द्योतना अवर्ण से होती है। चित्कला अन्तिम कला है, जिसका नामान्तर हार्द्धकला है। वह 'ह' है। दोनों मिलकर बिन्दुरूप से अभिन्न अवस्था में अहं-पदवाच्य होते हैं। त्रिकोण की तीन रेखाएँ परस्पर समान है। मध्य बिन्दु से उत्पन्न होने के कारण त्रिकोण का नाम है 'अम्बिका'।

अन्तरतम बैन्दव चक्र से नौ त्रिकोण नवयोनिचक्र के नाम से उद्भूत होते हैं। नवयोनिचक्र के नौ अवयव यों हैं—धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रमाता जीव, प्रमेय और प्रमा। ये नवयोनिचक्र भीतर और बाहर चिदानन्दमय हैं, अर्थात् चैतन्यकलामय तथा पूर्णाहन्तास्फुरणात्मक आनन्दमय हैं। ये देश, काल तथा आकार द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं। बैन्दव चक्र आभ्यन्तर और नवयोनिचक्र बाह्य है। ये नवयोनिचक्र वैखरी-वाङ्मय हैं।

नवयोनिचक्र ही श्रीचक्र के नवचक्रों के रूप में परिणत होते हैं। भीतर से बाहर की ओर चक्रों के नाम यों हैं : 1. महाबिन्दु अथवा सर्वानन्दमय चक्र, 2. त्रिकोण या सर्वसिद्धिप्रद चक्र, 3. अष्टकोण या सर्वरक्षाकर चक्र, 4-5. दो दशकोण अथवा दशार या सर्वार्थसाधक और सर्वरोगहर चक्र, 6. चतुर्दशार या सर्वसौभाग्यदायक चक्र, 7. अष्टदलकमल या सर्वसंक्षोभण चक्र, 8. षोडशदल कमल अथवा सर्वाशापरिपूरक चक्र, 9. तीन चतुरस्र या भूपुर अथवा त्रैलोक्यमोहन चक्र।

त्रिकोण के तीन स्पन्दनों से अष्टकोण का उद्भव होता है। यह त्रिकोण को वेष्टित करके रहता है। दशकोण दो हैं, एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर दशकोण नौ त्रिकोणों और बैन्दव के चारों ओर स्फुरणशील प्रभाओं से निर्मित है। इससे य र ल व श ष स ह ळ और क्ष इन दस वर्णों की स्फूर्ति होती है। पृथिव्यादि पञ्चभूत और गन्धादि पञ्चतन्मात्राएँ या भूतसूक्ष्म इन दस वर्णों से प्रकाशित होते हैं। वर्ण शक्तिरूप हैं और अर्थ शिवरूप। इसमें प्रकाश-विमर्शमय दस कोण हैं। ये सब मध्य में स्थित शिवशक्तिमय प्रभात्मक हैं। द्वितीय दशकोण, अर्थात् बाह्य दशार आभ्यन्तर दस कोणों की छाया है। इसमें क से ञ तक दस वर्ण हैं। शब्दादि पाँच तथा वचनादि पाँच इन्द्रियार्थों का स्फुरण इनसे होता है। इस द्वितीय दशार का परिणाम है चतुर्दशार। इसमें चौदह अर हैं, जिनमें बैन्दव, त्रिकोण, अष्टकोण और प्रथम दशार की चार प्रभाएँ हैं। दूरस्थ होने के कारण प्रभा ही दृष्टिगोचर होती है, अवयवों के दर्शन नहीं होते। शेष दस और द्वितीय दशार की प्रभाएँ हैं। इस स्थान में अवयवों का दर्शन होता है। ये चतुर्दशार वास्तव में संवित्तिकरणात्मक चौदह शक्तियों के रूप हैं—बाह्य इन्द्रियाँ दस और अन्तःकरण चार (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त)। यहाँ ट से भ तक चौदह वर्ण विद्यमान रहते हैं। इसके अनन्तर चार चतुष्कोण या भूपुर हैं। ये भी चक्र के बाह्य प्राचीर या सीमा हैं।

अब मैं भगवती के प्रधान अपर रूप और पर रूप में किस प्रकार का सम्बन्ध है इसकी किञ्चित् आलोचना करता हूँ। अप्रधान अपररूप का प्रसंग मैं यहाँ छेड़ूँगा नहीं; क्योंकि जगत् के सभी तो उन्हीं के रूप हैं। जो प्रधान अपर रूप है, वही सृष्टि का आदि है और विश्व के शिखरप्रदेश पर स्थित है। यही शिव-शक्ति का युगल रूप है। इस शक्ति को हम आपाततः पञ्चदशी के रूप में ग्रहण किया करते हैं। यह युगल रूप ही अनादि दिव्य मिथुन के रूप में साधक-समाज में परिचित है। श्रीचक्र के सबकी अपेक्षा अन्तरतम चक्र का नाम बैन्दव चक्र है—मध्य त्रिकोण के भीतर नित्यामण्डल, अर्थात् पञ्चदश कलाओं से वेष्टित महाबिन्दु है।

चन्द्रमण्डल में सोलह कलाएँ हैं। इन सोलह कलाओं में पन्द्रह कलाएँ वेष्टन के आकार में चारों ओर रहती हैं। बीच की कला का नाम सादाख्य है— यह षोडशी कला है। ये पन्द्रह कलाएँ ही पन्द्रह तिथियाँ हैं। कामेश्वरी से चित्रा-पर्यन्त पन्द्रह नित्याएँ ये ही हैं। सादाख्या कला=ललिता है। यह कालचक्र अथवा

तिथिचक्र सदा आवर्त्तित हो रहा है—इसके भीतर श्रीचक्र है (द्रष्टव्य और भास्करभाष्य, सू. 33, पृ. 137-139)। इसका तात्पर्य यह है कि कालरूप प्रपञ्च के मध्य में ही श्रीचक्र विद्यमान है। देशरूप प्रपञ्च में भी श्रीचक्र रहता है। भूगोल के उत्तर भाग में मेरु है, उसके दक्षिण में जम्बू आदि सात द्वीप हैं, उनके मध्य में भूगोल के वलयाकार सात समुद्र हैं। पुष्करद्वीप का घेरा मधुर जलयुक्त समुद्र है। उसके दक्षिण में परव्योम है। मेरु से व्योम-पर्यन्त सोलह स्थानों में ललिता से चित्रा-पर्यन्त सोलह नित्याएँ युग के प्रथम वर्ष में स्थित होती है, द्वितीय वर्ष में जम्बूद्वीप से मेरु-पर्यन्त गमन करती हैं, तृतीय वर्ष में लवणसमुद्र से जम्बूद्वीप तक गमन करती हैं। इन सोलह वर्षों में परमव्योम से मधुर समुद्र तक ललितादि सोलह नित्याएँ स्थित रहती हैं। इस तरह सोलह वर्षों में नित्याओं का एक-एक आवर्त्तन होता है। श्रीचक्र इस देशरूप चक्र के भीतर है, बाहर नहीं।

वस्तुत: पन्द्रह नित्याओं की साम्यावस्था का नाम ही बिन्दु है। इस बिन्दु को वेष्टित कर उसके घेरे के रूप में पन्द्रह नित्याएँ प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियों की प्रतीक है। इसलिए, यह नित्यामण्डल एक प्रकार से कालचक्र का ही प्रतिनिधि है। साधन के क्रमविकास से एक नित्या अन्य नित्याओं को लीनकर प्रदक्षिण-क्रम से अन्तिम नित्या के लयसाधनपूर्वक आवर्त्तन को समाप्त करती है। स्मरण रखना चाहिए कि एक नित्या अन्य नित्याओं में स्वयं लीन नहीं होती एवं उद्वृत्त शक्ति के द्वारा उनको भी अपने में लीन नहीं करती एवं अन्य नित्याओं के स्वरूप में पहुँचने के लिए अग्रसर होती है; इसलिए कर्म चलता रहता है एवं सर्वसमाधानवाद की उद्वृत्त शक्ति के द्वारा बिन्दु में प्रवेश करने में समर्थ होती है। स्वयं लीन होने पर यह सम्भव न होता। कालचक्र के आवर्त्तन ही कर्म अथवा उपासना का वास्तविक स्वरूप है। आवर्त्तन पूर्ण होने के साथ-ही-साथ बिन्दु में प्रवेश होता है। यही पंचदशी की प्राप्ति है। पंचदशी के सिद्ध होने पर फिर आवर्त्तन रहता नहीं। युगल को प्राप्त होने पर कुंजलीला का अवसान हो जाता है। वैष्णव साधना का यह लीलारहस्य इस सत्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। किन्तु, पञ्चदशी युगल-रूप है। इस युगल रूप से क्रमश: अद्वय-स्वरूप में जाना ही गुह्य साधना का इतिहास है। किन्तु, उसके पूर्व पञ्चदशी से षोडशी-पर्यन्त विवर्त्तन आवश्यक है। यह जो युगल रूप की बात कही गई हैं, इसमें परमा प्रकृति परमपुरुष के अंकगत है एवं दोनों ही चतुर्भुज हैं। पञ्चदशी से यदि षोडशी में जाना हो, तो शिव-शक्ति का सम्बन्ध क्रमश: अन्यरूप धारण करता है। शक्ति शिव में आश्रित है, यही पञ्चदशी का स्वरूप है, किन्तु जब तक शक्ति शिव के आश्रय का परित्याग कर, शिव को शवरूप में अथवा सुप्त रूप में छोड़कर, शिव के ऊपर की ओर उद्गत नहीं होती, तब तक पञ्चदशी से षोडशी में जाने की कोई आशा ही नहीं है। पञ्चदशी कालचक्र के अतीत है, यह सत्य है; किन्तु अतीत होकर भी वह वस्तुत: अतीत नहीं है। क्योंकि; पञ्चदशी में बिन्दु का आपूरण और संक्षय दोनों ही विद्यमान रहते हैं। पूर्णिमा अथवा अमावस्या कोई भी स्थायी नहीं है; क्योंकि पूर्णिमा के बाद कलाक्षय होता है एवं अमावस्या के बाद कलावृद्धि होती है जिसकी वृद्धि और ह्रास होते हैं, वह अपूर्ण है। जो वास्तव में पूर्ण है, उसकी वृद्धि भी नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता, वही षोडशी है, अमृतकला है :

पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।

यह षोडशी अमृतकला है—यही मृत्यु के अतीत, परिवर्त्तन के अतीत और काल के अतीत है, पञ्चदशी बिन्दुरूप में काल के आवर्त्तन से मुक्त होकर भी यथार्थ में मुक्त नहीं है। शिव शक्ति को अङ्ग में धारण किये हैं। यह योग की एक अवस्था है। षट्चक्रभेद होने पर सहस्रदल कमल के बिन्दु से इस अवस्था का उदय होता है। इस जगह शक्ति पञ्चदशी अवस्था के अन्तर्गत है। किन्तु शक्ति षोडशी अवस्था को तभी प्राप्त हो सकती है, जब शिव परमशिव के रूप में उसको धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

शक्ति शिव के अङ्क से अवतीर्ण होकर जब क्रमश: अधिकतर पुष्टि प्राप्त करती है, तब नाभिमार्ग खुल जाता है एवं शक्ति पुष्टि की प्रकर्षावस्था में नाभिमार्ग से निकले ब्रह्मनाल का आश्रयण कर जो कमल शून्य पथ में विकसित हुआ है, उसमें स्थिति प्राप्त करती है। इधर शिव परम शिवरूप में उन्नीत होते हैं। जिन चार मध्यवर्त्ती अवस्थाओं की बात कही गई है, उनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—

1. प्रासाद : इस अवस्था में परमपुरुष और परमाप्रकृति तल्प पर शयन करते हैं। यह एक पार्श्व की स्थिति है।
2. महाप्रासाद : इस अवस्था में पुरुष और प्रकृति में परस्पर मिलनमुद्रा का पूर्वाभास होता है।
3. पराप्रासाद : यह सामान्य मिलनमुद्रा की अवस्था है।
4. प्रासादपरा : यह विपरीत मिलन की अवस्था है।

इसके बाद ही षोडशी है। तब शिव फिर शिव नहीं रहते। पूर्वोक्त चार आसनों के प्रभाव से शिव शववत् सुप्त अवस्था में परिणत होते हैं एवं चैतन्य या शक्ति नाभि द्वार से बाहर निकलकर प्रकाशमान होती है। शक्ति तब अकेली रहती है, शिव जड रहते हैं। वह उन्मुक्त शक्ति ही उनकी अधिष्ठात्री है।

षोडशी की परावस्था ही परा है। महाशक्ति तब द्विभुजा होती हैं और सुवर्णपीठ पर आरूढ़ रहती है। आगे और पीछे दोनों ओर जागृति रहती है। पञ्चदशी से षोडशी-पर्यन्त शक्ति रक्तवर्ण थी, इस बार उन्होंने शुक्लवर्ण धारण किया है, रक्त-वर्ण अब नहीं रहा। इसके बाद महापादुका है—वही चरण है। षोडशी और महापादुका के अन्तराल में घोर नाद विद्यमान रहता है। यहीं पर नाद है। महापादुका के बाद कुछ भी नहीं है—है एकमात्र वह अखण्ड महाप्रकाश। वस्तुत:, उस महाप्रकाश में प्रविष्ट होने का द्वार ही यह महापादुका है।

इस महापादुका के प्रसङ्ग में गुह्य उपासना-सम्बन्धी योग-साहित्य में अत्यन्त गम्भीर तत्त्व की आलोचना की गई है। यहाँ उसकी अवतारणा अनावश्यक है। *योगरत्नावली* नामक एक हस्तलिखित पुस्तक नेपाल से मँगाई गई थी और हमारे सामने आई थी। उसमें जिस क्रम का निर्देश किया गया है, तदनन्तर, ऊर्ध्व चक्र में पराप्रासाद का निर्देश किया गया है। निरोधिका में महापादुका दीख पड़ती है। इसके अनन्तर नाद और उन्मना-अवस्था है। उसके बाद शिवावस्था है। शिवावस्था के अनन्तर निर्वाण होता है। इस निर्वाण में भी एक क्रम है—इस क्रम की परिसमाप्ति जहाँ होती है, वहाँ चरम निर्वाण होता है। उसका नाम रखा गया है अखण्ड महाशून्य निर्वाण। योगरत्नावली की धारा से प्रतीत होता है कि चक्षु जीवात्मा का स्थान और इच्छाशक्ति का अधिष्ठान है। उसके बाद त्रिकुटी या आह्लादचक्र है। वहाँ इच्छा नहीं है और जीवभाव भी नहीं है, किन्तु आनन्द है। ब्रह्मरन्ध्र में शुद्ध शक्तिभाव है, इसलिए शिवभाव स्फुरित होता है—शिव और शक्तियुगल। ब्रह्मरन्ध्र के बाद फिर शक्ति नहीं है, क्रमश: शिवभाव का ही प्रकर्ष चलता है। वह विशुद्ध शिवभाव नहीं है;

क्योंकि वहाँ भी मन रहता है। मन को हटाने के मार्ग में पहले ऊर्ध्वचक्र में पराप्रासाद है। उसके उपरान्त निरोधिका में महापादुका है, तदनन्तर नाद से उन्मना पर्यन्त है। उन्मना में मन न रहने के कारण शिवभाव विशुद्ध है, इसलिए साथ-ही-साथ निर्माण का उदय होता है। क्रमश: निर्वाण गम्भीर से गम्भीरतर होने लगता है, उससे शिवभाव भी शून्य हो जाता है। यह महाशून्य निर्वाण है, यही निष्कल पद है।

समग्र विश्व ही चक्रस्वरूप है। यही श्रीचक्र है। बिन्दु से इसका आविर्भाव होता है, फिर बिन्दु में ही इसका लय होता है। आविर्भाव का क्रम यों है—पहले बिन्दु रेखा में परिणत होता है। वास्तव में सरल रेखा ही मूलरेखा है—वायु की वक्रगति से यह सरल रेखा विभिन्न प्रकार की वक्र रेखाओं में परिणत होती है। रेखाओं के संयोग से आयतन होता है, उनका भी फिर संयोग होता है। मोटे तौर पर बिन्दु के प्रसार से ही अनन्त प्रकार के चक्रों का उद्‌भव होता रहता है। चक्र को सृष्टि भी या विश्व अथवा देह की सृष्टि भी वही है। प्रत्येक देवता स्वरूपत: चिदात्मक है—केवल भाव के भेद से भेदाभास जागता है, भावभेद होने से ही चक्रभेद भी होता रहता है। जिसे श्रीचक्र कहा जाता है, वह भी भाव की ही एक विशेष प्रकार की बनावट है।

बिन्दु ही चक्र का मूल है। शिव और शक्ति के सामरस्य को बिन्दु कहते हैं—इसका नाम रवि अथवा काम है। शिवांश संहारात्मक अग्नि है एवं शक्त्यंश सर्गात्मक सोम है—बिन्दु दोनों का सामरस्य अथवा रवि है। यह स्थितिरूप है।

आद्या शक्ति सर्वतत्त्वमयी प्रपञ्चरूपा है और सर्वतत्त्वों के अतीत है। वह नित्य परमानन्द रूप तथा चराचर की बीजस्वरूप है। 'अहम्' शिव का स्वरूप है, अहमाकार ज्ञान अथवा विमर्श शक्ति का स्वरूप है। आद्या शक्ति ही शिव के स्वरूप-ज्ञान के प्रकाश के लिए निर्मल दर्पण-रूप है। अहंज्ञान ही शिव का स्वरूपज्ञान है—आद्या शक्ति से ही उसका प्रकाश होता है। आगमवेत्ता विद्वान् कहते हैं, जैसे एक सुन्दर राजा स्वाभिमुख-स्थित स्वच्छ दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस प्रतिबिम्ब को अहम् रूप में जानता है, वैसे ही परमेश्वर अपने अधीन आत्मशक्ति का दर्शन कर अपना स्वरूप जान लेते हैं। 'मैं पूर्ण हूँ' यही उस ज्ञान का स्वरूप है। दर्पण जैसे सन्निकट वस्तु के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर प्रतिबिम्ब को अवभासित नहीं कर सकता, वैसे ही पराशक्ति भी परम शिव के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर स्थिति प्रपंच को प्रकटित नहीं कर सकती। इसीलिए, केवल शिव या केवल शक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण-कार्य नहीं हो सकता। दोनों का सहयोग चाहिए। दोनों का सम्बन्ध होने से ही सब तत्त्वों का उदय होता है। इसलिए, एक प्रकार से चक्र के अवतरण के विषय में किसी का भी प्राधान्य है, यह कहना नहीं बनता। इसीलिए, शांखायन-शाखा में काम और कामेश्वरी की समप्रधानता वर्णित है। वास्तव में, शिव और शक्ति एक ही तत्त्व है : '**शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिण:।**' फिर भी, चक्रावतार में शक्ति का ही प्राधान्य स्वीकृत है। जब वह परा शक्ति स्वेच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करती है, तब चक्र उत्पन्न होता है। जो विश्व उन्हीं के भीतर अव्यक्त भाव से निहित था, वह तब फूट उठता है। परा शक्ति में सृष्टि करने की इच्छा का जागरण प्राणियों के अदृष्ट के विपाकवश होता है। परा शक्ति का विश्वरूप धारण करना ही विश्व की सृष्टि है। यही उनकी स्फुरता है। इस सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। सब तत्त्वों की समष्टि ही विश्व के नाम से अभिहित होती

है। श्रीचक्र एवं अन्यान्य चक्र सब तत्त्वों के संस्थान के सिवा और कुछ नहीं है। ये तत्त्वातीत अवस्था से प्रकटित होते हैं। तत्त्वातीत सत्ता शान्त, शिव और निष्क्रिय है। उससे तत्त्वमय चक्र कैसे आविर्भूत होते हैं? यहीं पर परा शक्ति की आवश्यकता समझ में आयगी। परा शक्ति की इच्छा ही सृष्टि का मूल है। इसीलिए, चक्रावतार में शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है।

अतएव, परा शक्ति एक ओर है और उसकी स्फुरता दूसरी ओर। स्फुरता ही सृष्टि का रूप है। सर्वतत्त्वमय विश्व की सृष्टि, विश्वमय परदेवता-चक्र का आविर्भाव और पराशक्ति के द्वारा अपनी स्फुरता का दर्शन एक ही बात है।

इस आविर्भाव में स्वरूपत: क्रम न रहने पर भी बुद्धि द्वारा एक क्रम, वह चाहे जिस किसी प्रकार का ही क्यों न हो, स्वीकार करना पड़ता है। यह क्रम हमलोगों के वर्त्तमान दृष्टिकोण से निम्नांकित रूप में प्रदर्शित किया जाता है :

1. तत्त्वातीत प्रकाश या शिव। यह निराकार और शून्यरूप (अ) है।

2. द्वितीय अवस्था है शिव-शक्ति का सामरस्य। यह काम अथवा रवि है। यह अग्नीषोमात्मक बिन्दु है। शिव=अ उ, शक्ति=ह। दोनों का सामरस्य ही यह बिन्दु है।

3. तदनन्तर बिन्दु का स्पन्दन अथवा संसरण होता है। इसी का नाम शुक्ल बिन्दु और रक्तबिन्दु है।

4. पूर्वोक्त संसरण से जो अभिव्यक्त होता है, उसका नाम संवित् है। यह चिन्मयी और अग्नीषोमात्मिका है। इसका नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलकर बहता है, वैसे ही प्रकाश के सम्बन्ध से परा शक्ति या विमर्श का स्राव होता है। स्राव होने पर ही लहरें अथवा तरंगे उठती हैं। वही दो बिन्दुओं के मध्यस्थित हार्द्ध-कला है।

5. इस हार्द्ध-कलायुक्त प्रकाश से ही बैन्दव चक्र का प्रसार होता है। उक्त प्रकाश को ही कामकलाक्षर कहते हैं। अतएव, बिन्दु से ही बैन्दव चक्र होता है सही, किन्तु बिन्दु का स्पन्दन होना चाहिए। यह बैन्दव चक्र ही मध्य त्रिकोण, अर्थात् विश्वजननी का निज स्थान है, जिससे समग्र विश्व का आविर्भाव क्रमश: होता है।

निर्विशेष चिन्मात्र का प्रथम परिणाम ही कामकलाक्षर है—यही महाशक्ति माँ का आविर्भाव है। इसके अनन्तर उनका पट्टाभिषेक, अर्थात् सकलभुवन-साम्राज्य के अधिकार के विषय में स्वातन्त्र्य-लाभ होता है (*ललितासहस्रनामभाष्य*)।

जिस बिन्दु से बैन्दव चक्र उत्पन्न होता है, वही परमात्मा है। वही महाबिन्दु अथवा सदाशिव है। यह बिन्दु वस्तुत: पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन तीन मातृकाओं की समष्टि अथवा तुरीय बिन्दु है। इसको केन्द्र बनाकर मूल त्रिकोण प्रसूत होता है, इसलिए यह त्रिकोण त्रिमातृकामय और त्रिमातृकारचित कहा जाता है। महाबिन्दु में त्रिमातृका एक बिन्दु के रूप में मिलती है। बैन्दव चक्र में वे प्रसृत होकर परस्पर पृथक्-भाव ग्रहण करती हुई तीन रेखाओं का भाव प्राप्त कर परस्पर सम्बन्ध होने के कारण त्रिकोण के रूप में परिणत

होती है। यही विश्वयोनि है—सब तत्त्व, अर्थात् छत्तीस तत्त्व इसकी लहरी स्वरूप हैं। ये सब तत्त्व अथवा समग्र विश्व बैन्दव चक्र से ही उद्भूत है। बैन्दव चक्र कामकलाक्षर द्वारा गठित है। अत:, सभी तत्त्व और चक्र मूल में कामकलामय हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

भावना उपनिषद् में कहा है कि आन्तरयाग या आत्मध्यान के वक्त उपासक को अपने शरीर को ही श्रीचक्र समझकर भावना करनी चाहिए। इस भावना की विशिष्टता यह है कि शरीर अथवा विश्व आत्मा से अभिन्न है, इसका ख्याल हमेशा रखना चाहिये।

बाह्य प्रपञ्चों की अभिव्यक्ति देश और काल दोनों के मिश्रण सापेक्ष है। भावनावादी कहते हैं कि चन्द्रमा की सुप्रसिद्ध पञ्चदश कला शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह तिथियों का द्योतक है।

इन सबको कामेश्वरी से चित्रा तक पन्द्रह नित्याओं के साथ अभिन्न समझना चाहिये। सादाख्य नामक प्रसिद्ध षोडशी कला की स्वयं परमेश्वरी ललिता के साथ अभिन्न समझना चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जो कुछ कालचक्र में पतित होता है, वह श्रीचक्र में नित्य विद्यमान नित्यवर्ग के साथ अभिन्न है।

तिथिचक्र अथवा कालचक्र निरन्तर आवर्त्तन कर रहे हैं—श्रीचक्र इसके आभ्यन्तर में है, बाहर नहीं। इस प्रकार देशचक्र के सम्बन्ध में भी सोचना आवश्यक है। जम्बू द्वीप से मधुरोदक समुद्र तक भूमि और पानी के रूप में पृथ्वी विभाग है, वही भावना का विषय है। याद रखना होगा कि जम्बू द्वीप के एक ओर मेरु और मधुरोदक समुद्र के दूसरी ओर परव्योम है।

नित्यामण्डल इसी प्रकार परिभ्रमण करता है जो प्रत्येक नित्या वार्षिक गति से एक के बाद एक विभाग के साथ संस्पर्श प्राप्त करती है। इसके कारण सभी नित्याएँ जैसे प्रथम वर्ष में मेरु से यात्रा आरम्भ करते हैं, वैसे ही देखा गया है। षोडश वर्ष में वे सब परव्योम से यात्रा आरम्भ करते हैं। ये सभी विषय तांत्रिक योग के अन्तर्गत है। इस बारे में अधिक लिखना अनावश्यक है।

(*'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि'* से साभार)

करपात्री जी के द्वारा न्यायलीलावतीकार के शक्तिपदार्थ खण्डन का खण्डन एवं शक्तिपदार्थ की प्रमाणों से सिद्धि

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

मीमांसा दर्शन में शक्ति को पृथक् पदार्थ माना गया है। आगमों में शक्ति का प्राधान्य स्वीकृत है ही। नव्य वैशेषिक दर्शन के सुप्रसिद्ध मैथिल विद्वान् श्रीवल्लभाचार्य (1100–1175 ई.) ने अपने मौलिक ग्रन्थ *न्यायलीलावती* में शक्ति पदार्थ का तार्किक खण्डन प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने लिखा है कि—**शक्तिश्च मीमांसाकानाम्। अत्रैव संग्रह श्लोक:—**

न द्रव्यं गुणवृत्तित्वात् गुणकर्मबहिष्कृता।
सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धा भावान्तरं हिसा।।[१]

जिस प्रकार मीमांसक शक्ति को पदार्थ मानते हैं वैसे ही वैशेषिकों को भी शक्ति को अलग पदार्थ मानना चाहिये षट् पदार्थों के अतिरिक्त। इसके लिये युक्ति इस प्रकार है शक्ति द्रव्य नहीं हो सकती है क्योंकि शक्ति सामान्य में, विशेष में एवं समवाय में भी है। शक्ति गुणवृत्ति है अर्थात् गुणों में वर्तमान है फिर भी इसका गुण तथा कर्म में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि यह गुण और कर्म से बहिर्भूत है अत: षट् पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति पदार्थ को मीमांसकों की तरह हमें भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा पूर्व पक्ष वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ में रखा है।

इस पूर्वपक्ष का खण्डन करने हेतु उन्होंने अपनी तार्किक युक्तियाँ एवं साधक तथा बाधक अनुमान *न्यायलीलावती,* पृष्ठ 91 से 106 में इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

शक्ति की पदार्थान्तरता का खण्डन

शक्तिरपि न पदार्थान्तरम्, प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिस्तत्र मानम्, इति चेन्न।
— *न्यायलीलावती, पृ. 91*

क्षणिक पदार्थ की तरह शक्ति नाम का भी पदार्थ द्रव्यादि षट् पदार्थों से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। इस सन्दर्भ से आपातत: 'शक्तिर्न पदार्थान्तरम् मानाभावात्' किन्तु इसका हेतु आश्रयासिद्ध होगा, पक्ष को पहले से सिद्ध होना चाहिये, किन्तु शक्ति तो अभी सिद्ध नहीं है। अत: प्रकृत में सभी कारणों में

---

[१] श्रीवल्लभाचार्य — *न्यायलीलावती,* दुर्गाधर की शाम्भवी व्याख्या सहित, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा सम्पादित, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1996, पृ. 25

'स्वजन्यानुकूला-द्विष्ठातीन्द्रियभावभूतमर्थधर्मवत्त्व' का अभाव ही 'तथात्वेनाप्रमीयमाणत्व' हेतु से इष्ट है। आत्मा स्वरूप कारण में जो तन्मात्रवृत्ति अदृष्टस्वरूप अतीन्द्रिय धर्म प्रसिद्ध है, उसी का अभाव वह्नि प्रभृति दाहादि के कारणों में सिद्ध करना है, तदनुसार प्रकृत में यह परिशेषानुमान वाक्य अभिप्रेत है 'कारणानि न स्वजन्यानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रियभावभूतकारणवन्ति तथात्वेन-प्रमीयमाणत्वात्।'

शक्ति को पदार्थान्तर स्वीकार करने वाले मीमांसक शक्ति की पृथक् सत्ता के लिए 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण को उपस्थित करते हैं। उन लोगों का कहना है कि जिस प्रकार का हाथ और अग्नि का संयोग एक समय मणिमन्त्र आदि प्रतिबाध के न रहने पर दाह को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार का करतल और अग्नि का संयोग दूसरे समय (दाह के मणिमन्त्र) आदि प्रतिबन्ध को ही सत्त्व दशा में दाह को नहीं उत्पन्न करता है। एक ही प्रकार के करतल और अग्नि के संयोग से एक समय दाह की उत्पत्ति एवं दूसरे समय दाह की अनुत्पत्ति वह्नि के संयोग स्वरूप कारण से अतिरिक्त दाह के एक और कारण की कल्पना का अवसर देता है। वह्नि से अतिरिक्त दाह का वही कारण शक्ति है। अत: शक्ति पदार्थ की सत्ता में प्रमाण का अभाव नहीं कहा जा सकता—

> **अन्यथैवोपपत्तेः। मणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रज्ञसमवायिनोऽदृष्ट-भेदस्योत्पादानात्। — *न्यायलीलावती*, पृ. 92**

शक्ति को षट् पदार्थों के अन्तर्गत मानने वाले नैयायिक-वैशेषिक सिद्धान्ती कहते हैं कि शक्ति पदार्थ को स्वीकार किये बिना ही अन्यथैव एक समय एक ही प्रकार के करतल और अग्नि के संयोग दाह की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति दोनों की उपपत्ति हो सकती है। अत: प्रकृत में अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अन्यथाप्यनुपपत्ति एवं अन्यथैवोपपत्ति दोनों ही अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति का विरोधी है।

प्रकृत में उक्त दाह और अदाह की 'अन्यथैवोपपत्ति' अर्थात् शक्ति पदार्थ को स्वीकार किये बिना ही अन्यरीति से उपपत्ति इस प्रकार होगी कि करतल और अग्नि के संयोग से जहाँ दाह की उत्पत्ति नहीं होती वहाँ मणिमन्त्रादि से जीवात्मा में एक दाह का प्रतिरोधक विशेष प्रकार का अदृष्ट उत्पन्न होता है, जिस से मणिमन्त्रादि समवहित करतलाग्नि संयोग से दाह की उत्पत्ति नहीं होती है। कहने का तात्पर्य है कि कारणसमुदाय (सामग्री) से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण समुदाय के अन्तर्गत प्रतिबन्धक का अभाव भी एक कारण है। मणिमन्त्रादि दाह के प्रतिबन्धकों को सत्ता रहती है। वहाँ करतलाग्नि संयोग से दाह के कारण समुदाय के अन्तर्गत प्रतिबन्धकीभूत मणिमन्त्रादि का अभाव भी दाह का एक कारण है, प्रकृत में प्रतिबन्धकभाव स्वरूप एक कारण के न रहने से दाह की सामग्री विघटित हो जाती है। इसलिये शक्ति पदार्थ को स्वीकार किये बिना ही (अन्यथैव) उक्त दाह एवं अदाह की उपपत्ति होगी। अत: अर्थापत्ति प्रमाण से शक्ति की कल्पना का कोई अवसर नहीं है। अत: कहते हैं—

> **अग्न्यन्तरेणापि तर्हि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न, प्रतिनियताग्निसाध्य-दाहप्रतिपक्षभूतस्यैवादृष्टस्य जननात्। — *न्यायलीलावती,* पृ. 94**

पूर्वपक्षवादी मीमांसक कहते हैं कि यदि ऐसी ही बात है अर्थात् क्षेत्रज्ञ या पुरुषगत अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति ही मणिमन्त्रादि से होती है, इसीलिये हाथ में अग्नि का संयोग रहने पर भी उस पुरुष में दाह की उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् उस पुरुष का हाथ नहीं जलता है तो फिर उसी पुरुष के हाथ में अग्न्यन्तर से भी अर्थात् मणिमन्त्रादि से असमवहित वह्नि से भी दाह की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि दाह प्रतिरोधक अदृष्ट तो उस पुरुष में है ही।

सिद्धान्ती नैयायिक कहते हैं कि उक्त पुरुष के कर के साथ दो प्रकार के अग्नि का संयोग है एक दाहानुत्पादक उस वह्नि के मणिमन्त्रादि का समवधान प्राप्त है। दूसरा दाहोत्पादक वह्नि का संयोग जिसे मणिमन्त्रादि का समवधान प्राप्त है। उक्त वह्नि समवहित मणिमन्त्रादि से उस पुरुष में इस वह्नि से प्राप्त जो दाह है तत्प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट की ही उत्पत्ति होती है। अत: उस पुरुष में उस अग्नि से होने वाला दाह ही उसे अदृष्ट से प्रतिरुद्ध होता है अन्य अग्नि से अर्थात् मणिमन्त्रादि से असमवहित अग्नि से उसी पुरुष में दूसरे दाह की जो उत्पत्ति होगी, उसका प्रतिरोध उक्त अदृष्ट से नहीं होगा। अत: मीमांसक कहते हैं—

> **औषधिलिप्तकाष्ठादिषु कथमदाह इति चेन्न, तत्राप्यौषधलेपकारिपुरुषसमवेता–दृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादनात्। — *न्यायलीलावती*, पृ. 95**

पुन: पूर्वपक्षी मीमांसक की ओर से शङ्का होती है कि लकड़ी आदि में भी औषध या रसायन विशेष का लेप कर देने पर अग्नि संयोग से दाह नहीं होता। ऐसा क्यों? लकड़ी आदि अचेतन पदार्थों में अदृष्ट हो नहीं सकता, अत: वहाँ दाह होना चाहिए। यदि शक्ति अतिरिक्त पदार्थ माना जाये तो इस प्रकार के उदाहरणों में औषध आदि के लेप से दाहानुकूल शक्ति का प्रतिरोध या नाश मान लिया जायेगा। सिद्धान्ती नैयायिक इसके उत्तर में यही कहता है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि जिस वस्तु में प्रतिबन्धक अदृष्ट रहे, वहीं प्रतिबन्ध या रुकावट हो अन्यत्र न हो। अन्यनिष्ठ अदृष्ट भी अन्यत्र प्रतिबन्धक हो सकता है। यहाँ काष्ठ आदि में प्रतिबन्धक अदृष्ट न होने से कोई अन्तर न होगा, क्योंकि औषधादिलेपन सम्पन्न काष्ठ औषध लेप करने वाले के अदृष्ट से प्रभावित होकर दाह को नहीं होने देता। अत: शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। लेप करने से लेपकर्ता पुरुष में ही प्रतिरोधक अदृष्ट की कल्पना द्वारा औषध लिप्त काष्ठ में दाह का प्रतिरोध हो जायेगा।

> **प्रतिपक्षसन्निधानोत्पादकादृष्टविशेषस्य वा दाहप्रातिकूल्यम्। अदृष्टविशेषार्जित–करतलानलसंयोगस्य वा दाहप्रतिपक्षत्वम्। स च विशेषो दाहादाहाभ्यामेव कल्पयिष्यते। — *न्यायलीलावती*, पृ. 96**

शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करने वाले मीमांसक इस प्रसङ्ग में कह सकते हैं कि मणिमन्त्रादि के सन्निधान से किसी अदृष्ट की उत्पत्ति का ज्ञापक कोई श्रुत्यादि प्रमाण नहीं है। यदि मणिमन्त्रादि से तत्प्रयोक्ता पुरुष में अदृष्ट की उत्पत्ति के सूचक किसी शक्ति की कल्पना कर भी लें तो अदृष्ट के उत्पादक जो अदृष्ट के शौच आचमनादि साधारण करण है, उसकी भी सत्ता मणिमन्त्रादि स्थल में अथवा काष्ठ में औषधि लेपादि स्थल में माननी होगी, किन्तु प्रकृत में यह सम्भव नहीं है। अत: मणिमन्त्रादि के सन्निधान से अथवा औषधादि के लेप से दाहकप्रतिरोधक किसी अदृष्ट की उत्पत्ति पुरुष में नहीं मानी जा सकती।

इस सन्दर्भ में सिद्धान्ती नैयायिक कहते हैं कि सभी कार्यों की उत्पत्ति में अदृष्ट कारण है। तदनुसार मणिमन्त्रादि के संसर्ग रूप कार्य के प्रति भी उसको कारण मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि मणिमन्त्रादि के प्रयोक्ता में शौच आचमनादि की सत्ता पूर्व में अवश्य रहती है। इसलिये दाह का प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादि का समवधान तदुत्पादक विशेष प्रकार के अदृष्ट से ही मणिमन्त्रादि में आता है, जिससे मणिमन्त्रादि स्थल में दाह का उत्पादन नहीं हो पाता है। इसके लिए शक्ति पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रसङ्ग में प्रतिपक्षी मीमांसक कह सकते हैं कि मणिमन्त्रादि के समवधान से पहले दाह जो होता है वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि उक्त अदृष्ट की सत्ता तो पहले भी है। इसलिए शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक है। इस पर सिद्धान्ती मणिमन्त्रादि के समवधान स्थल में दाह की अनुपत्पत्ति का अन्य प्रयोजक कहते हैं कि करतल और अनल-इन दोनों का विशेष प्रकार का जो संयोग, उसी से दाह की अनुत्पत्ति होती है। करतल और अग्नि के संयोग में यह दाहोत्पादकत्व और दाहानुत्पादकत्व स्वरूप विशेष की पहचान, दाह और अदाह स्वरूप कार्य से ही होगा, अत: करतलानल संयोग के रहते हुए भी दाहानुत्पादक लिये शक्ति पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जिस करतलानल संयोग से दाह की उत्पत्ति होती है, उस करतलानल में दाह प्रयोजक वैशिष्ट्य की सत्ता के लिए उक्त दाहानुत्पादक अदृष्ट को कारण मानेंगे। अत: शक्ति पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मीमांसक के द्वारा प्रस्तुत अर्थापत्ति प्रमाण से शक्ति की प्राप्त सत्ता को अन्यथोपपत्ति के द्वारा निरस्त समझना चाहिये।

शक्ति के विषय में मीमांसक के द्वारा प्रस्तुत साधक एवं बाधक अनुमान

> **विवादास्पदं स्वरूपमात्रसम्बन्धसापेक्षम्। जनकत्वात्। आत्मवदिति चेन्न। अत एव संस्कारादृष्टसापेक्षत्वप्रसङ्गात्। तत्रात्मत्वमुपाधिरिति चेत्तुल्यं प्रकृतेऽपि।**
>
> — *न्यायलीलावती, पृ.99*

पूर्वपक्षवादी मीमांसक अनुमान प्रमाण के द्वारा शक्ति की सत्ता का प्रयास 'विवादास्पदम् ... शक्ति चेत्' इत्यादि सन्दर्भ से कहते हैं। अनुमान का स्वारस्य है कि वह्नि में दाहजनकता का सम्पादक ऐसा एक पदार्थ है जो 'स्वरूप मात्र सम्बन्ध से युक्त है' अर्थात् केवल वह्नि में ही रहने वाला (एकमात्र वृत्ति) है एवं वह्नि को दाह स्वरूप कार्य में उन्मुख करने वाला एवं अतीन्द्रिय कोई वस्तु अवश्य है क्योंकि वह्नि दाह का कारण है, सभी कारण उक्त अतीन्द्रिय किसी वस्तु के रहने से ही कार्य का उपपादन करते है, अन्यथा नहीं।

जैसे अदृष्ट सभी कार्यों का कारण है, इसलिये आत्मा भी तत्समवायी होने से हेतु है, आत्मा से जो कार्यो की कारणता है, उसका प्रयोजक है आत्ममात्र वृत्ति तत्कार्यानुकूल अतीन्द्रिय अदृष्ट स्वरूप भावभूत धर्म। इस अदृष्ट सापेक्ष ही आत्मा कार्यों का कारण है। इससे यह दृष्टान्त साधक अनुमान निष्पन्न होता है आत्मास्वरूपमात्रसम्बन्धसापेक्षम् (अर्थात् स्वकार्यानुकूल—अद्विष्ठ-अतीन्द्रियभावभूतधर्मसापेक्षम्, कारणत्वात्)

इस अनुमान के द्वारा आत्मा में जो कार्य मात्र की स्वभावनिष्ठ अदृष्ट सापेक्ष कारणता है उसी के दृष्टान्त से वह्नि प्रभृति सभी कारणों में स्वरूप मात्र निष्ठ सम्बन्ध अर्थात् तत्कारणमात्र निष्ठ तत्तत्कार्यानुकूल अतीन्द्रिय भावभूत जिस धर्म की सिद्धि होती है वही है शक्ति पदार्थ।

सिद्धान्ती नैयायिक-वैशेषिक उक्त उनुमान के द्वारा शक्ति की सिद्धि का प्रतिवाद इस दृष्टि से करते हैं कि कथित विवादास्पद (अर्थात् वह्निदाहानुकूलनातीन्दियाद्विष्ठसमवायी न वेति विप्रतिपत्त्यास्पदम्) स्वरूपमात्रसम्बोधनसापेक्षम् इस अनुमान के द्वारा। अतएव अर्थात् अदृष्ट सभी कार्यों का जनक है, इसलिए उक्त स्थापनानुमान से भी वह्नि प्रभृति कारणों में से भी अदृष्ट स्वरूप अद्विष्ठ (एकमात्रवृत्ति) अतीन्द्रिय भावभूत धर्मसापेक्षता की ही सिद्ध होगी, वह्नि प्रभृति में शक्ति स्वरूप सापेक्षता की नहीं। सभी कार्यों के कारणों में अदृष्ट की सापेक्षता सर्वसिद्ध ही है, अत: उक्त अनुमान सिद्धसाधन दूषित है।

'संस्कारादृष्टसापेक्षत्वप्रसङ्ग' शब्द के आत्मा में सिद्ध अदृष्ट स्वरूप अतीन्द्रिय भावभूत धर्म की सिद्धि के द्वारा जो सिद्धसाधन दोष का उद्भावन किया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि इस सिद्धसाधन दोष का मूल है—'आत्मा स्वजन्यकार्यानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रियभावभूतादृष्टस्वरूपधर्मसमवायी कारणत्वात् दण्डादिवत्' यह अनुमान, किन्तु इस अनुमान का हेतु आश्रयत्व रूप उपाधि से युक्त होने के कारण हेत्वाभास है। अत: इससे किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: 'संस्कारादृष्टसापेक्षत्वप्रसङ्ग' शब्द से जो कथित रीति से स्थापनानुमान में सिद्धसाधन दोष का उद्भावन किया गया है, वह युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यह पक्षतावच्छेदक स्वरूप उपाधि तो प्रकृत में अर्थात् शक्ति के साधक स्थापनानुमान में भी है क्योंकि जिस प्रकार कथित अदृष्ट स्वरूप साध्य का व्यापक एवं कारणत्व स्वरूप साध्य का व्यापक है एवं कारणत्व स्वरूप हेतु का अव्यापक आत्मत्व है, उसी प्रकार स्थापनानुमान में भी वह्नित्व उपाधि हो सकता है; क्योंकि वह्नित्व दाहादाहजनक सभी वह्नियों में है, किन्तु शक्ति केवल दाहजनक वह्नि में ही है, अत: दोनों पक्षों में समान रूप से लागू होने वाले उपाधिदोष से सिद्धसाधन का उद्भावक अनुमान दूषित नहीं हो सकता।

शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थिते:। अनपेक्षत्वे तथैव व्यभिचारात्।

— *न्यायलीलावती, पृ.103*

शक्ति को कारण मानने में दूसरा दोष यह है कि इससे अनवस्था दोष होगा क्योंकि जिस प्रकार वह्नि स्वत: दाह का कारण नहीं है, उसी प्रकार वह्निनिष्ठशक्ति स्वत: शक्तित्व रूप से कारण नहीं हो सकती है, किन्तु शक्ति को भी स्वजन्यकार्यानुकूल शक्तिमत्त्वेनैव कारण मानना होगा। फलत: प्रथम शक्ति में भी द्वितीय शक्ति की कल्पना करनी होगी, जो अनवस्था में परिणत हो जायेगी। वस्तुत: यह अनवस्था दोष अपसिद्धान्त दोष का उपलक्षक है क्योंकि शक्ति में दूसरी शक्ति की कल्पना मीमांसकों के सिद्धान्त के प्रतिकूल है वे यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो उनके मत में अपसिद्धान्त दोष होगा।

यदि अन्य कारणों को शक्ति सापेक्ष होकर ही कार्य का उत्पादक मानेंगे, किन्तु शक्ति स्वरूप कारण में शक्ति की सापेक्षता स्वीकार नहीं करेंगे तो सभी कारण शक्ति सहकारणैव कार्यजनक है—यह स्थापना शक्ति में शक्त्यनपेक्ष कार्योत्पादकता स्वीकार करने से व्यभिचरित होगी।

जनशक्तियोग्यत्वं जनकत्वमिति चेत् न, असिद्धेः। — *न्यायलीलावती, पृ.103*

पूर्वपक्षी इस व्यभिचार दोष का उद्धार 'जनशक्ति... इति चेत्' इस सन्दर्भ के द्वारा इस अभिप्राय से करते हैं कि कार्यजनन की उपयुक्त शक्ति की योग्यता जिस में रहे वही कारण है, यह योग्यता वह्नि में तो है, किन्तु वह्निगत दाह जनन शक्ति में नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से आत्माश्रय एवं अनवस्था दोनों ही दोष होंगे। अनवस्था का उपपादन किया जा चुका है एवं आत्माश्रय दोष प्रथम कक्षा में ही शक्ति की कारणता को शक्ति सापेक्ष मानने से स्फुट है। इसलिये शक्ति में शक्त्यन्तर स्वीकार करने की बात निरर्थक है।

सिद्धान्ती नैयायिक कहते हैं कि उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि शक्ति की सत्ता का साधक कोई प्रमाण नहीं है।

तस्माद्विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसम्बद्धातीन्द्रियसापेक्षं प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्। यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं, यथा नीलं न पीतं रूपम्।

— *न्यायलीलावती, पृ.104*

सिद्धान्ती अभी तक इतना ही कह पाये हैं कि द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति पदार्थ की सत्ता का साधक कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु इतने ही कहने भर से द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति पदार्थ की सत्ता सर्वथा निराकृत नहीं हो सकती। इसके लिए कथित साधक प्रमाण की असत्ता के साथ-साथ बाधक प्रमाण की सत्ता भी दिखानी चाहिये। सो जब प्रकृत में नहीं है। तब अन्ततः द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति नाम के अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता का संशय तो रहेगा ही। इस संशय के रहने से भी कथित 'षडेव पदार्थाः' यह अवधारण बाधित रहेगा ही। अतः सिद्धान्ती 'तस्मात्' इत्यादि से लेकर 'यथा नीलं न पीतरूपम्' इतने पर्यन्त के सन्दर्भ से द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति नाम का पदार्थ की असत्ता के साधक अनुमान को दिखाया है।

'विवादाध्यासितम्' अर्थात् प्रकृत में विवाद है कि वह्नि से जो दाह उत्पन्न होता है उस दाह के अनुकूल वह्नि मात्र वृत्ति (अदृष्ट) एवं अतीन्द्रिय भावभूत कोई ऐसा धर्म वह्नि में है अथवा नहीं? इस विवाद का मुख्य विषय है उक्त धर्मविशिष्ट वह्नि। उस वह्नि स्वरूप पक्ष में वह्नि मात्र वृत्ति जो अतीन्द्रिय धर्म तत्सापेक्षत्वाभाव की सिद्धि अभीष्ट है अर्थात् वह्नि को दाह के उत्पादन में स्वमात्र वृत्ति अतीन्द्रिय किसी धर्म की अपेक्षा नहीं होती है, फलतः वह्नि स्वयं दाह को उत्पन्न करता है। उसे स्वमात्रनिष्ठ अतीन्द्रिय किसी भावभूत धर्म की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि किसी प्रमाण के द्वारा ऐसी उपलब्धि नहीं होती है कि वह्नि स्वमात्रवृत्ति अतीन्द्रिय

भावभूत किसी धर्म सापेक्ष होकर (शक्ति सापेक्ष होकर) दाहादि अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं, जो पदार्थ प्रमाण के द्वारा जिस प्रकार का उपलब्ध नहीं होता है। वह उस प्रकार का नहीं होता, जैसे किसी नील वस्तु का रूप पीत प्रतीत नहीं होता, इसलिये वह वस्तु पीत रूप की नहीं होती है। वह नीली ही मानी जाती है अत: शक्ति पदार्थ सिद्ध नहीं होता है। यह वल्लभाचार्य अपने तर्कों से सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं।

करपात्री जी के द्वारा प्रस्तुत शक्ति का खण्डन : पूर्वपक्ष

करपात्री जी ने *भक्ति सुधा* (पृ. 92-96) में न्यायलीलावती के उपर्युक्त तार्किक विवेचना को अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णित किया है—

भगवती का ही शक्तिस्वरूप से भी आराधन होता है। हर एक कार्य की उत्पादनानुकूल शक्ति उसके कारण में होती है। कार्य के अनन्त होने से वह शक्ति भी अनन्त है—

शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा:।

शक्ति के सम्बन्ध में तार्किकों का कहना है कि कोई प्रमाण न होने से स्वरूप सहकारिमेलन के अतिरिक्त 'शक्ति' नाम का कोई पदार्थ नहीं है। स्फोटादिरूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति को शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब प्रतिबन्धकाभाव आदि सहकारी से सहकृत अग्न्यादि के स्वरूप से ही स्फोटादिरूप कर्मोपपत्ति हो जाती है, तब अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है। अभाव की अकारणता होने से प्रतिबन्धकाभाव को सहकारी मानना ठीक नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव को कारण मानने में न तो अन्वय-व्यतिरेकित्व में कोई बाधा पड़ती है, न किसी अनिष्ट की प्रसक्ति ही होती है। भाव की तरह अभाव का भी कार्य से अन्वय-व्यतिरेक दृष्ट है और अभाव की प्रमिति में योग्य की अनुपलब्धि एवं विभ्रम में विवेकाग्रह की हेतुता भी स्पष्ट ही है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 92)

यदि कहा जाय कि क्या प्रतिबन्धक का प्रागभाव कारण है या उसका प्रध्वंसाभाव, तो दोनों की कारणता नहीं बनती, क्योंकि उत्तम्भक को प्रतिबन्धक के पास ले जाने पर प्रतिबन्धक के रहने पर भी प्रागभाव के बिना ही कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अत: प्रागभाव को कारण नहीं कहा जा सकता। एवञ्च प्रतिबन्धक की अनुदयदशा में भी अर्थात् उसका प्रागभाव रहने पर भी कार्योत्पत्ति होती है, अत: प्रध्वंसाभाव की भी कारणता नहीं कही जा सकती। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तम्भक मणि, मन्त्र आदि के अभाव से सहकृत ही प्रतिबन्धक वस्तुत: प्रतिबन्धक होता है, न कि केवल मणि आदि। अत: वहाँ प्रतिबन्धक से सहकृत की ही कारणता होने से उक्त दोष नहीं रह जाता। सर्वत्र प्रतिबन्धक-संसर्गाभावविशिष्ट की ही कारणता मानी गयी है, अत: अनियतहेतुकत्वदोष भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उपलब्धि में भी उपलब्धि के प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव के विकल से अभाव प्रमिति की अनियतहेतुकता दुष्परिहार्य होगी। (*भक्तिसुधा*, पृ. 92)

शक्तिपक्ष में भी अप्रतिबद्ध ही शक्ति को कारण मानने से अभावविकल्प से उत्पन्न दोष एवं उसका परिहार तुल्य है।

प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतु: प्रतिबन्धक:।

इस कुसुमाञ्जलि के वचनानुसार सामग्री-वैकल्य प्रतिबन्ध है और उसका हेतु प्रतिबन्धक है। यहाँ प्रतिबन्धपक्ष प्रतिबन्धकाभाव के कारण होने और कारणापेक्ष ही प्रतिबन्धकाभाव के प्रतिबन्ध होने के कारण अन्योन्याश्रयग्रस्त होने से यदि कहा जाय कि प्रतिबन्धकाभाव में कारणता मानना ठीक नहीं है, तो यह अनुचित है, क्योंकि अभाव की कारणता मानकर ही कार्यानुदयमात्र ही से मन्त्रादि में कार्यप्रतिकूलता का बोध होता है और मणि, मन्त्रादि में कार्य की प्रतिबन्धता का निर्धारण किये बिना ही मन्त्रादि के अभाव में अन्वय-व्यतिरेक ही से कारणता का निश्चय होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति या ज्ञप्ति में हुआ करता है। यहाँ मन्त्र एवं तद्भाव (प्रागभाव) की परस्परहेतुता न होने से अज्ञात भी मन्त्र तथा तदभाव की कार्य के प्रति प्रतिकूलता एवं कारणता होने से दोनों प्रकार का अन्योन्याश्रय नहीं है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 93)

यदि कहा जाय कि कार्याभाव से मन्त्रादि कारणाभावरूप माने जाते हैं, अत एव मन्त्रादि का अभाव भी कारण माना जाता है। एवञ्च मन्त्र तथा तदभाव में रहने वाले प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व के अन्योन्यनिमित्तक होने से उत्पत्ति या ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयता दुर्वार है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव की कारणता का अवगम हुए बिना भी कार्याभावमात्र से मन्त्रादि की कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान हो सकता है, अतएव तदभाव की कारणता का भी ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक से ही सुकर है।

यदि कहा जाय कि मणि-मन्त्रादि के सान्निध्य में, उभयथापि अग्न्यादि के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी दाहादि का प्रतिबन्ध होता ही है, अत: यदि स्वरूपातिरिक्त शक्ति न मानें, तो प्रतिबन्ध असम्भव हो जायगा, इसलिये शक्ति माननी चाहिए, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धशब्द से बोधित होने वाला कार्य के प्रति औदासीन्य ही अग्न्यादि में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। यदि ऐसा न मानें, तो शक्ति मानने पर भी प्रतिबन्धक का विवेक कठिन हो जायेगा। शक्ति का नाश प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता, अन्यथा प्रतिबन्ध हट जाने पर कार्याभाव की प्रसक्ति होगी। स्फोटरूप कार्य की उत्पत्ति के लिए वहाँ शक्त्यन्तर की उत्पत्ति मानना भी उचित नहीं, क्योंकि उसके किसी कारण का वहाँ निरूपण नहीं किया जा सकता। अग्निसामग्री से वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह तो नष्ट ही हो चुकी है। अशक्त अग्नि उत्पादक न होने से उस आश्रयभूत अग्नि से भी कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती। यदि उत्पादकत्व मानें, तो कार्य में भी वह वैसे ही विद्यमान होने से शक्ति को मानना निष्प्रयोजन है। यदि वह शक्त है, तो उस शक्ति को कार्य के विषय में भी मान लेने से काम चल जाता है। ऐसी स्थिति में कारणान्तर का निरूपण न होने से शक्त्यन्तर की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। प्रतिबन्धाभाव को भी कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव की कारणता अस्वीकृत है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 93)

यदि अभाव को कारण माना जाय, तो उसी से स्फोटादि कार्यों की उत्पत्ति हो जायगी, फिर अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना से क्या लाभ? एक शक्ति से दूसरी शक्ति का प्रतिबन्ध मानने से अनवस्था-प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उसमें भी उक्त दूषण के परिहारार्थ शक्तिप्रतिबन्ध कहना पड़ेगा। अत: शक्ति के बिना भी कार्य के अन्यथापि उत्पन्न हो जाने से अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का कोई अवकाश नहीं है।

उपादानोपादेय भावरूप नियम की अनुपपत्ति भी शक्ति में प्रमाण नहीं कहीं जा सकती अर्थात् दुग्धादि जैसे दध्यादि का उपादान है, न कि तिलादि, एवञ्च तिलादि ही तैलादि का उपादान है, न कि दुग्धादि, ऐसा जो नियम है, उसकी शक्ति को बिना स्वीकार किये आपत्ति न होने के कारण शक्ति मानना आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शक्ति के बिना माने ही अनादिसिद्ध वृद्धव्यवहार से निर्णित तत्तत्कार्यानुकूल स्वभाव की विशेषता से ही उपादानोपादेय-नियम की सिद्धि हो जाती है। यदि स्वभाव को नियमात्मक न माना जाय तो शक्ति में भी नियम न रह सकेगा। 'यह शक्ति यहीं क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं है', इसका समाधान स्वभावभेद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अत: कहना होगा कि दोनों प्रकार की अर्थापत्तियों को उपर्युक्त रीति से शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 94)

यदि—

"विमतं (अग्न्यादि) अजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि कारकत्वात् कुण्ठकुठारवत्।"

इस अनुमान को शक्तिसाधक कहें, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सहकारिसमवधान के अतिशय से ही सिद्ध-साधनता है। यदि—

"अग्नि: अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय:, कारणत्वात्, गुरुत्वाश्रयवत्।"

इस अनुमान द्वारा शक्ति को सिद्ध करें, तो भी जो योगी को मानता है, उसके मत में किसी वस्तु के अतीन्द्रिय न होने से उक्त अनुमान में दिया हुआ 'अतीन्द्रिय' विशेषण सिद्ध नहीं होता, अत: वैसे विशेषण से गर्भित अनुमान से शक्ति की सिद्धि कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि, जैसे हमारा चक्षु, इन्द्रिय होने के कारण गुरुत्वजातिविषय नहीं है, वैसे ही योगी का चक्षु इन्द्रिय होने के कारण गुरुत्व जातिविषय न होगा। इस अनुमान से अतीन्द्रिय की सिद्धि करके पूर्वोक्त अतीन्द्रियसामान्यगर्भित अनुमान द्वारा शक्तिसिद्धि हो जायगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ यह शङ्का होगी कि ऐसा अनुमान करने वाले की दृष्टि में योगीन्द्रिय प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? यदि अप्रसिद्ध है, तो योगी को न मानने वाले मीमांसक की दृष्टि में आश्रयासिद्धि होगी। यदि प्रसिद्ध है, तो धार्मिग्राहक प्रमाण का बाध होगा अर्थात् अस्मदादिकों के इन्द्रिय से विलक्षण योगीन्द्रिय को ग्रहण करता हुआ प्रमाण ऐन्द्रियक-अतीन्द्रियक साधारण ही उसका ग्रहण करायेगा, अत: उस प्रमाण से गुरुत्व-जातिविषयत्वाभावरूप साध्य का बोध हो जायगा। यदि उस अतीन्द्रिय विशेषण को अस्मादादि के अभिप्राय से मानें, तो भी काम न चलेगा क्योंकि जब परमाणु को जानता हूँ, आकाश को जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है, तब परमाणु और उसका मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय का विषय होता है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 92)

इस तरह सभी वस्तु ऐन्द्रियकज्ञानविषय बन जाने से अस्मदादि की दृष्टि से भी अतीन्द्रियत्व अप्रसिद्ध ही रहता है और इस तरह पूर्वोक्त दोष ज्यों-का-त्यों रहने से उक्त अनुमान से शक्तिसिद्धि नहीं हो सकती। यदि उस अनुमान में, अनुव्यवसायतिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियकबुद्धि के अगोचर होने के आशय से वह अतीन्द्रियत्वरूप

विशेषण है, ऐसा कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्यप्रमाण से उपनीत विशेषणावगाहिविशिष्टज्ञान मानने वाले के मत में सभी पदार्थों की ऐन्द्रियकता सम्भव होने से पूर्वोक्त दोष ज्यों-का-त्यों रह जाता है अर्थात् जिनके मत में '**सुरभि चन्दनम्**' इत्यादि विशिष्ट ज्ञान प्रमाणान्तर घ्राण आदि से उपनीत गन्धादि को भी विषय कहते हैं, उनके मत में यत्किञ्चित् प्रत्यक्षार्थ विशेषण होने से सभी पदार्थ ऐन्द्रियकबुद्धिबाध्य हो सकते हैं, अत: अप्रसिद्ध विशेषणता उक्त अनुपान में तदवस्थ ही है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 94)

यदि पूर्वोक्त— "**अग्नि: अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय: कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवत्।**" इस अनुमान में विशिष्टज्ञान एवं अनुव्यवाय के अतिरिक्त अस्मादादि ऐन्द्रियकबुद्धि का अविषयत्व ही अतीन्द्रिय माना जाय, तो वहाँ फिर यह शङ्का हो सकती है कि इस अनुमान में 'आश्रय' पद से जो आधाराधेयभाव विवक्षित है, वह संयोगिरूप से विक्षित है या समवायिरूप से? यदि संयोगिरूप से, तो गुरुत्वाश्रय के दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होता है। यदि 'आश्रय' पद का अर्थ समवायी मानें, तो समवाय को न मानने वाले मीमांसकभाट्ट के मत में उक्त विशेषण ही अप्रसिद्ध होने से वह अनुमान नहीं बन सकेगा और वह्नि में स्थितिस्थापक संस्कारसिद्धि होने से सिद्धसाधनता भी होती है। यदि कहा जाय कि सिद्धिसाधनता के अस्तित्व में कोई प्रमाण न होने से क्यों मानें? तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अस्तित्व में— "**विमत: स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्वात्, कटवत्।**" यह अनुमान विद्यमान है। इस अनुमान की स्थितिस्थापककार्यवत्वरूप उपाधि से दूषित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपाधि को साध्यव्यापकता होनी आवश्यक है, किन्तु उत्पन्न होते ही नष्ट हो गये कटादि में स्थितिस्थापकरूप कार्य का उपलम्भ न होने पर भी यहाँ तथाविध संस्कार का अभ्युपगम होने से साध्याव्याप्ति रहती है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 94)

अपि च जो मीमांसक अपने सिद्धान्तानुसार सिद्धसाधनता कह रहा है, उसको सैकड़ों अनुमानों से भी स्वसिद्धान्त से किस तरह प्रच्युत किया जा सकता है और कैसे उसके साधनतासिद्ध इस अभिधान को प्रत्युद्धृत किया जा सकता है? यदि इस प्रकार स्वसिद्धान्त के अनुरोध से सिद्धसाधनता मानने वाले की अनुमानों द्वारा तदीय सिद्धान्त से प्रच्युति अशक्य होने और सिद्धसाधनता के अपरिहार्य होने से स्वाभिप्रायसिद्ध्यर्थ पूर्वोक्त अनुमानगत '**अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय**' में '**स्थितिस्थापकेतर**' यह विशेषण जोड़कर दूषण का परिहार किया जाय, तो भी प्रभाकर के मत में—जो कि कर्म की अप्रत्यक्षता मानते हैं— कर्म में अर्थान्तरतापत्ति होगी, क्योंकि उनके मत में अप्रत्यक्ष एवं निष्क्रिय कर्म में अतीन्द्रिय सामान्यवत्त्वादिरूप साध्य विद्यमान ही है। किन्तु यह ठीक नहीं है, फिर जो भी कादाचित्क होता है, वह स्वाश्रयातिशयपुर:सर देखा गया है, जैसे संयोग-विभागजन्य कार्य संयोग-विभागरूप स्वाश्रयातिशयपुर:सर होता है। इस व्याप्ति से कादाचित्क होने के कारण संयोग-विभाग में भी स्वाश्रयातिशयपुर:सरत्व का अनुमान किया जाता है। जो यह अतिशय है, वह कर्म है, ऐसा मानने वाले प्रभाकर के मत में कर्म से अर्थान्तरता होती ही है और वह्नि भी अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रय है ही। अनुमान का 'कारणत्वात्' यह हेतु शक्ति से अनेकान्त है। यदि

कहा जाय कि नहीं, शक्ति भी साध्यवान् होने से उससे अनेकान्तता नहीं है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति में यदि शक्त्यन्तर मानें, तो अनवस्था की प्रसक्ति होगी। (*भक्तिसुधा*, पृ. 96)

यदि कहा जाय कि जन-शक्तियुक्त ही अर्थात् शक्तिमान् ही यहाँ कारणत्वेन विवक्षित है, अत: शक्ति में अनैकान्तिकता नहीं है, तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि विशेषणीभूत शक्ति के बिना सिद्ध हुए शक्ति-युक्ततारूप कारणत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि प्रमाणान्तर से विशेषणीभूत शक्ति की सिद्धि करना हो, तो फिर इसके लिए इतने प्रपञ्च की क्या आवश्यकता थी? साथ ही गुण आदि में अनेकान्तता भी आती है। जैसेकि—द्रव्य, गुण और कर्म में ही सामान्य रहता है। वहाँ निष्क्रियत्वरूप विशेषण होने से यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नहीं आता, क्योंकि सावयव होने के कारण आश्रित द्रव्य सक्रिय है, तथापि गुण और कर्म, इन दोनों की अन्यतराश्रयता तो होगी ही और वे दोनों भी द्रव्यलक्षण या द्रव्यत्व व्याप्त है, अत: गुणादि में भी द्रव्यत्व को प्रसक्ति होगी ही। ऐसा न हो, इसलिए वहाँ तद्रहितत्व कहना पड़ेगा। तथा च उसमें कारणत्व होने से वह अनेकान्तिक है अर्थात् गुणादि में यथोक्त शक्त्याश्रयत्व उपपन्न नहीं होता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 96)

यदि उपर्युक्त अनुमान को त्यागकर शक्तिसिद्ध्यर्थ "**विवादाध्यासित: स्फोट: उभयवादिसम्प्रतिपन्न-स्फोटकारणातिरिक्तकारणाजन्य: कार्यत्वात् घटवत्**" ऐसे अनुमानान्तर को स्वीकार करें, क्योंकि प्रतिवादी से विप्रतिपन्न होने के कारण उभयवादिसम्प्रतिपन्न कारण से अतिरिक्त कारण तो प्रतिबन्धकाभाव होता है, अत: उससे अर्थान्तरता होती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवादि द्वारा असम्प्रतिपन्न प्रतिबन्धकाभावरूप कारण से सिद्धिसाधन होता है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 96)

यदि कहा जाय कि वहाँ भावजन्यरूप विशेषण के न होने से अर्थान्तरता नहीं है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भावजन्यरूप विशेषण होने पर भी ईश्वर से सिद्धिसाधनता होगी, क्योंकि शक्तिवादी मीमांसक ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। इस तरह यद्यपि सहजशक्ति में न तो अर्थापत्ति और न अनुमान ही प्रमाण हो सकता है, तथापि आधेय शक्ति में '**व्रीहीन् प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत**' इत्यादि आगम प्रमाण होने से तद्बलात् सहजशक्ति की भी सिद्धि हो सकती है। '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' इत्यादि वाक्यों में '**व्रीहीन्**' इस द्वितीया श्रुति से—'**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि वाक्यों में जैसे '**ग्रामम्**' इस द्वितीयाश्रुति से ग्राम की कर्मता अवगत होती है, वैसे ही—व्रीहि आदि की कर्मता ज्ञात होने से यह निश्चित होता है कि उन ब्रीह्यादिकों में प्रोक्षणादिजन्य कोई अतिशय है, क्योंकि वहाँ कोई अन्य दृष्टफल दिखलायी नहीं पड़ता। शक्तिवादी उसी अतिशय को शक्ति मानते हैं। किन्तु संस्कारसंज्ञक चेतनगत अदृष्ट का अचेतन व्रीहि आदि में समवाय नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मगुण अदृष्ट अनात्मभूत व्रीह्यादि में नहीं हो सकता। कदाचित् यह कहा जाय कि '**व्रीहीन्**' इस द्वितीयाश्रुति से एक तो व्रीहि की संस्कार्यता बोधित होती है, दूसरे 'व्रीहि प्रोक्षण से संस्कृत हुए' ऐसी प्रसिद्धि भी है, अत: व्रीहिगत संस्कार को चेतनगत मानना विरुद्ध है, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटविषय ज्ञान से उत्पन्न संस्कार जैसे घटविषयक होने से, न कि घटाधार होने से घटसंस्कार कहा जाता है, वैसे यहाँ भी व्रीहिप्रोक्षणादि से उद्भूत

संस्कार की भी व्रीहिविषयक प्रोक्षणादि क्रिया से उत्पन्न होने मात्र से तदीयत्व–प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है, अत: द्वितीयाश्रुति या प्रसिद्धि व्रीह्यादिगत शक्ति की साधिका न होने से कहना होगा कि शक्ति की कल्पना में कोई भी प्रमाण नहीं है। अतएव लीलावतीकार ने भी कहा है कि विवादाध्यासित अग्न्यादि निजरूपमात्र से सम्बद्ध अतीन्द्रियसापेक्ष नहीं है, क्योंकि प्रमाण द्वारा वैसा उपलभ्यमान नहीं होता। प्रमाण से जो जैसा उपलब्ध नहीं होता, वह वैसा नहीं होता, जैसे नील पीतरूप में उपलब्ध न होने से पीत नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शक्ति का साधक कोई प्रमाण नहीं है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 97)

करपात्रीजी ने इस प्रकार न्यायलीलावतीकार की शक्ति खण्डन विषयक युक्तियों को पूर्वपक्ष में प्रस्तुत किया है। अब इन सभी युक्तियों का सप्रमाण खण्डन जिस प्रकार किया है वह यथावत् रूप में प्रस्तुत है—

करपात्रीजी के द्वारा शक्ति पदार्थ की सिद्धि

परन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि शक्ति के अस्तित्व में—

“परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तय:।
इतिश्रुतिस्मृतिमिताशक्ति: केन निवार्यते।।”

“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।”
—*श्वेताश्वरोपनिषद्* 6.8

“तै ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।”
—श्वेताश्वरोपनिषद् 6.8

“य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्।” **—*श्वेताश्वरोपनिषद्* 4.1**

“शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा:।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तय:।।”

“सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध: स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्ति:।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा: षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।”

इत्यादि सैकड़ों श्रुति–स्मृतियों से गीयमान शक्ति का अपह्नव किस तरह किया जा सकता है? उक्त वचनों में कार्य–कारणादि सहकारियों के निरासपूर्वक शक्ति का प्रतिपादन है, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि ये वचन स्वरूप सहकारिमात्र के प्रतिपादक हैं। शक्ति की स्वरूपमात्रता भी नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ **‘परा अस्य’** इत्यादि षष्ठ्यन्त पद से स्वरूपातिरिक्तता का प्रतिपादन किया गया है। **‘अस्य शक्तिर्विविधा:’**, **‘तास्तु शक्तय:’** इत्यादि वचनों से उस शक्ति की अनेकता भी श्रुत होने से उसे एकरूप ब्रह्म भी कहना ठीक नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि लिङ्ग से ईश्वरस्वरूप की निश्चायिका होने से उक्त श्रुति–स्मृतियों को

अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही नैयायिक आदिकों ने भी इन वचनों को ईश्वरस्वरूपपरक माना है, अत: उन्हें अर्थवाद बतलाना उचित नहीं है। फिर भी यदि किन्हीं तार्किकम्मन्य को शक्ति के अस्तित्व में उक्त आगम वचनों से ही सन्तोष न होकर वे अर्थापत्ति और अनुमान की ही अपेक्षा रखते हों, तो उनको अग्रिम अर्थापत्ति और अनुमान से भी सन्तुष्ट किया जा सकता है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 97-98)

पीछे स्फोटादि कार्य की अन्यथानुपपत्ति से प्रथम अर्थापत्ति को दिखलाया ही जा चुका है। यदि उस सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वहाँ पर भी यह कहा गया था कि प्रतिबन्धक के अभाव में सहकृत ही अग्निस्वरूप से कार्य की उत्पत्ति होने से अन्यथा भी उपपत्ति होती है और प्रागभाव प्रध्वंसाभावादि विकल्प से अभाव की अकारण भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि अप्रतिबद्ध ही शक्ति में भी कारणता बन सकने से उसमें भी उक्त प्रसङ्ग समानही है। परन्तु, उस पर यह कहना है कि क्या इस प्रकार का यह एक प्रतिकूल तर्कमात्र है कि यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो तो शक्ति भी कारण न होगी अथवा शक्ति कारण है, अत: प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है, इस तरह विपर्यय में पर्यवसान होने से अभाव का कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है?

पहली बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि केवल तर्क से उपालम्भ नहीं किया जा सकता, उसका विपर्यय में भी पर्यवसान होना चाहिये, अन्यथा वह तर्काभास हो जाता है और ऐसे तर्काभास द्वारा प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जो शक्ति का अङ्गीकार नहीं करता, वह उक्त रीति से प्रतिबन्धकाभाव में कारणता दिखलाते हुए विपर्यय में पर्यावसान कैसे कर सकता है?

तर्क दो प्रकार का होता है—एक स्वपक्ष-साधकानुकूल और दूसरा प्रतिपक्षदूषक। पहले में विपर्यय पर्यवसान की अपेक्षा हुआ करती है, अन्यथा साधनानुकूलत्व सिद्ध नहीं होता। दूसरे में उसकी अपेक्षा नहीं होती, वहाँ परमतासिद्ध व्याप्ति से ही परपक्ष की अनिष्ट सिद्धि की जा सकती है। यहाँ भी यही स्थिति मानकर यदि यह कहा जाय कि परासिद्ध शक्ति से परपक्ष का अनिष्टसाधन किया जा रहा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ऐसा मानता है कि प्रमित में अर्थात् अधिकरण में प्रमित प्रतियोगिक हो निषेध होता है, न कि अप्रमितप्रतियोगिक, वह—'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो, तो शक्ति भी कारण न होगी, इस तरह शक्ति की कारणता का निषेध नहीं कर सकता—क्योंकि शक्ति और उसकी कारणता, दोनों अप्रमित हैं। यदि उन्हें प्रमित कहें, तो स्वरूप से उनका निषेध नहीं किया जा सकता है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 99)

तात्पर्य यह हुआ कि भले ही यहाँ तर्क का भी पर्यवसान विपर्यय में न हो, पर शक्तिकारणत्व का निषेध ही नहीं सिद्ध किया जा सकता। फिर भी जल्पकथा छोड़कर यदि सुहृद्भाव से कोई यह पूछे कि प्रतिबन्धभाव यदि कारण न हो, तो प्रतिबन्ध रहने पर भी शक्ति कार्य को क्यों न उत्पन्न करेगी? तो इसका उत्तर यह है कि शक्तिवादी के मतानुसार प्रतिबन्धक वह कहा जाता है, जो पुष्कल कारण रहते हुए भी कार्योत्पत्ति का विरोधी

हो। अत: वह यह नहीं कहा जा सकता कि सामग्रीवैकल्य से कार्य का उदय नहीं हुआ, अपितु यही कहना होगा कि विरोधी रहने से ही कार्योदय नहीं हुआ। (*भक्तिसुधा*, पृ. 99)

लोकप्रसिद्ध विरुद्ध होने से सामग्रीवैकल्य को ही प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। कोई भी लौकिक पुरुष भूमि, वायु, जल एवं तेज के संसर्ग से विरहित कोठी में भरे हुए बीजों को या तुरी, वेमा, कुविन्द आदि से विरहित पेटी में रखे हुए तन्तुओं को प्रतिबद्ध नहीं समझता। सामग्रीराहित्यमात्र को यदि प्रतिबन्ध कहा जाय, तो समस्त कारणों को केवल प्रतिबन्धभाव में ही उपक्षीणता हो जाने से यह इस कारण है, यह प्रतिबन्धाभाव है इस तरह परीक्षकों के विभक्तरूप से दोनों का विशेषावधारण ही न होना चाहिये। अभाव को कारण न मानने पर कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक विरोध होगा, यह कथन भी असङ्गत होगा, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक कार्य-प्रतिबन्धकाभाव के विषय होने से प्रतिबन्धकाभाव अन्यथा सिद्ध है।

यहाँ यदि यह कहा जाय तो फिर अनुपलब्धि भी अभाव के उपलम्भ की हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधिनी भावोपलब्धि का अभाव होने से उनके अन्वय-व्यतिरेक को भी अन्यथा सिद्ध कहना सहज है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ कारणान्तर न होने से अगत्या अनन्यथासिद्ध अनुपलब्धि को कारण मानना पड़ा है, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ उसके बिना अभावोपलम्भ के कारण का निरूपण नहीं किया जा सकता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 99)

इन्द्रिय को ही यदि अभावोपलम्भ का कारण कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसके अभाव में सन्निकर्ष न होगा। वहाँ संयोग तथा समवाय का अभाव होने और सम्बन्धान्तरगर्भ ही विशेषण-विशेष्यभाव के प्रत्यक्षाङ्ग होने से वहाँ अभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं, अपितु अनुपलब्धिगम्य ही है। अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ संयुक्त विशेषण होने के कारण अग्नि का भी प्रत्यक्षत्व होने लगेगा।

यदि यह कहा जाय कि असम्बद्ध ही अभाव इन्द्रियग्राह्य हो, तो क्या हानि है, क्योंकि उसकी प्रतीति इन्द्रियान्वय-व्यतिरेक की अनुविधायिनी होने से अपरोक्ष है और इसके अतिरिक्त दूसरी गति भी नहीं है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अयोगि प्रत्यक्ष को प्रमिति में इन्द्रियों से सम्बद्ध अर्थग्राहकत्व-नियम का निराकरण नहीं किया जा सकता और अभाव की प्रतीति का अपरोक्षत्व सिद्ध न होने से इन्द्रियान्वय और व्यतिरेक अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीण हो जाने से अन्यथा सिद्ध भी हो जाते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि नहीं, अन्वयव्यतिरेक की अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीणता कहना ठीक नहीं, अन्वयव्यतिरेक की अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीणता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव को इन्द्रियग्राह्य न माना जायगा, तो अन्ध द्वारा त्वगादि से घटादिरूप अधिकरण के गृहीत होने पर उसको रूपाभाव को प्रतीति मान लेना पड़ेगा, क्योंकि अधिकरण तो उस अन्ध से गृहीत ही है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 100)

यदि कहें कि चक्षुरिन्द्रिय के न होने से वहाँ अन्ध को रूपाभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय अभाव का ग्राहक है ही नहीं, अतएव यह कहा जाय कि अन्ध को प्रतियोगी ग्राहक

इन्द्रिय न होने से ही रूपाभाव की प्रतीति न होगी। तथा च अभाव की ऐन्द्रियकत्वसिद्धि हो जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि फिर अभाव को प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय ग्राह्य मानने वाले के मत में भी अनन्ध को भी असन्निहित मेरु आदि में घट एवं उसके रूपादि के अभाव की चाक्षुषता क्यों न होगी? यदि कहा जाय कि वहाँ प्रतियोगी के चाक्षुष होने पर भी अधिकरण के चाक्षुष न होने से रूपाभाव का चाक्षुषत्व नहीं होता, तो इधर से भी कहा जा सकता है कि इसीलिये त्वगिन्द्रिय से गृहीत घटादि में अन्ध को रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय द्वारा घटादि रूप अधिकरण का वहाँ ग्रहण नहीं होता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 100)

यदि कहा जाय कि तब तो घ्राणेन्द्रिय के अगोचर कुसुमादि या चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य वायु में गन्ध या रूप के अभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो इस पर यही कहना होगा कि भले न हो, वहाँ वायु आदि में रूपादि का अभाव चाक्षुष न होने पर भी उनमें रूपाभाव ज्ञानरूप व्यवहार में कोई बाधा नहीं पड़ती। (*भक्तिसुधा*, पृ. 100)

षष्ठ प्रमाणवादियों के यहाँ सर्वत्र यह नियम नहीं है कि अभाव अनुपलब्धिगम्य ही है, क्योंकि व्यापकाभाव से व्याप्य के अभाव को और कारणाभाव से कार्याभाव को अनुमेय मान लिया गया है अर्थात् यदि वक्ष्यमाण तत्तत् भट्टपादादि वृद्धों की सम्मति से अभाव का प्रमाणान्तरगम्यता भी है, तो योग्यानुपलब्धिगम्यस्थल में ही प्रतियोगिग्राहक द्वारा अधिकरण के ग्रहण का नियम है, क्योंकि अभाव की उपलब्धि का व्यापकीभूत जो अनुपलब्धि आदि कारण है, उसके अतिरिक्त इन्द्रियादिरूप कारण की पुष्कलता ही योग्यता है और इन्द्रिय उसका अन्त:पाती होने के कारण उसके अभाव में भी योग्यता न बनेगी।

जहाँ प्रमाणान्तरगम्यता होती है, वहाँ उसके बिना भी अभाव का ग्रहण हो सकता है, जैसे व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का अनुमान। इस विषय में भट्टपाद लिखते हैं कि अग्नि और धूमरूप भाव के नियम्यत्व-नियन्तृत्व जैसे माने जाते हैं, वे ही नियम्यत्व और नियन्तृत्व अग्नि-धूम सम्बन्धी अभाव के विपरीत प्रतीत होता है। भावावस्था में धूम नियन्ता और अग्नि नियम्य होता है और अभाव में इसके विपरीत स्थिति होती है अर्थात् तब धूमाभाव नियम्य और अग्नि का अभाव नियन्ता होता है—

नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयो:।।

कारणाभाव से कार्याभाव के अनुमान विषय में श्रीमण्डन मिश्र ने *ब्रह्मसिद्धि* में बतलाया है कि हेतु के अभाव से फलाभाव का नियम होने से दोषाभाव से विपर्ययाभाव का अनुमान किया जा सकता है—

"विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव इति।"

अतएव स्थलविशेष में अनन्यथा सिद्धि अन्वय-व्यतिरेकबल से अनुपलब्धि को अभाव प्रतीति में कारणता निश्चित होती है। प्रकृत में स्वपुष्कल कारण से कार्योत्पत्ति हो सकती है, तब प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना आवश्यक नहीं है और इस मत में अन्योन्याश्रयता का वारण करना भी कठिन होगा। यद्यपि मण्यादि की कार्यप्रतिकूलता का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से हो सकता है, तथापि विसामग्रीरूपता

लक्षणप्रतिबन्धत्व तदीय अभाव की सामग्री के अन्तर्भाव विज्ञान के सापेक्ष है, क्योंकि, विसामग्री प्रतिबन्ध है, यह मान्य है। (*भक्तिसुधा,* पृ. 101)

अत: प्रतिबन्धत्व और सामग्रीत्व का ज्ञान परस्पर सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रयता दुर्निवार होगी, अर्थात् वैसामग्र्य ही प्रतिबन्ध है और प्रतिबन्धाभावरूप कारण वैकल्य ही वैसामग्र्य है। ऐसी स्थिति में मणि आदि के वैसामग्र्यरूप प्रतिबन्धत्व का ज्ञान मन्त्रादि सम्बन्धी अभाव सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञान सापेक्ष है और मन्त्रादि के अभाव का सामग्र्यन्तर्भाव ज्ञान, मणि आदि के प्रतिबन्धत्व ज्ञान के अधीन है, क्योंकि प्रतिबन्धाभाव रूप, कारण वैकल्य से वैसामग्र्य का उपपादन होगा, अतएव अन्योन्याश्रयता सुतरां सिद्ध है। (*भक्तिसुधा,* पृ. 101)

यदि कहा जाय कि मण्यादि के विसामग्रीत्व का ज्ञान भले ही मण्याद्यभाव सम्बन्धी सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञान के सापेक्ष रहे, पर वह्निस्वरूप की तरह अन्वय-व्यतिरेक से ही मण्यादि के अभाव की सामग्र्यन्तर्भाव सम्बन्धी अवगति हो सकती है, अत: अन्योन्याश्रयता न होगी, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ यह शङ्का होगी कि क्या प्रत्येक मण्याद्यभाव अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कारणरूप से निश्चित किये जाते हैं या प्रतिबन्धाभावरूप उपाधि से क्रोड़ीकृत होकर? पहली बात हो नहीं सकती क्योंकि मण्याद्यभाव अनन्त है, उनके उपसङ्ग्राहक के बिना प्रत्येक के अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष मानें, तो विसामग्रीरूप प्रतिबन्धज्ञान के अधीन प्रतिबन्धाभावत्वरूप उपाधि का ज्ञान हुए बिना मण्याद्यभाव सम्बन्धी सामग्र्यन्तर्भाव का ज्ञान होना कठिन है, अत: अन्योन्याश्रयता का निराकरण फिर भी बना ही रहेगा, इसलिये द्वितीय पक्ष भी अस्वीकार्य है। (*भक्तिसुधा,* पृ. 102)

शक्ति पक्ष में प्रतिबन्ध की जो असम्भवता पीछे कही गयी, वह भी ठीक नहीं है, अन्यथा शक्ति को न मानने वालों को भी कारणों के कार्यौदासीन्य को ही प्रतिबन्ध मान लेना पड़ेगा, क्योंकि वैसामग्र्य प्रतिबन्ध का तो उपर्युक्त अन्योन्याश्रय दोषरूप रीति से खण्डन किया ही जा चुका है। अत: प्रतिबन्धाभाव के कारण न बनने से कार्यार्थापत्ति की, बिना शक्ति को स्वीकृत किये, अन्यथा उपपत्ति हो ही नहीं सकती। (*भक्तिसुधा,* पृ. 103)

शक्ति का स्वीकार किये बिना उपादानोपादेयभाव-नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती, अत: उसे भी शक्ति में प्रमाण मानना ही चाहिये। वहाँ स्वभावभेद से ही उपपत्ति करके जो पहले अन्यथा उपपत्ति कही गयी थी, उसका अभिप्राय क्या है? क्या शक्तिवादी को भी अन्ततोगत्वा जब स्वभाव की शरण लेनी ही पड़ती है, तब अच्छा है कि पहले से ही स्वभाव मान लिया जाय, यह, अथवा स्वभावातिरिक्त शक्ति में प्रमाण का न होना। यदि प्रथम पक्ष तो वैसा मानने से सर्वत्र स्वभाववाद का पाद-प्रसार होने से सामान्य, समवाय एवं विशेष आदि का भी पराकरण प्रसक्त हो जायगा। अनवस्था भय सत्ता से जैसे सत्तान्तर माने बिना ही स्वभाव-विशेषवश सद्व्यवहार हेतुत्व मान लिया जाता है, वैसे ही अन्यत्र द्रव्यादि में भी स्वभावविशेष से सद्व्यवहार उत्पन्न हो जाने से सत्तासामान्य का अपलाप हो जायगा। इसी तरह— **"समवायवान् अयं घट:।"** यहाँ

अनवस्था भय से जैसे समवायान्तर माने बिना ही समवाय की घट के प्रति विशेषणता मान ली जाती है, वैसे ही “**शुक्ल: पट:, चलति चैलाञ्चलम्**” यहाँ भी गुण-कर्म में स्वभाव-भेद से ही विशेषण-विशेष्य भाव होकर समवाय का अपलाप हो जायगा। इसी प्रकार जैसे अन्त्यविशेषों में स्वभाववशात् परस्पर व्यावृत्ति मानी जाती है, क्योंकि विशेषों में विशेषान्तर मानने से उनकी भी, अनुगतरूपवत्ता से रूपादि की तरह, एक तो अन्त्यविशेषत्व की हानि होगी और दूसरे, अनवस्थाप्रसक्त होगी। अगत्या किन्हीं विशेषों को निर्विशेष मानने पर उन्हीं को अन्त्यविशेष मानना पड़ता है, वैसे ही नित्य द्रव्यों को भी स्वभाववशात् व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्व होने से अन्त्यविशेष का अपलाप हो जायगा। इसी तरह कालादि का भी अपलाप-प्रसक्त होगा। अत: स्वभावाश्रयण से काम नहीं चल सकता। यदि स्वभावातिरिक्त शक्ति में कहीं भी प्रमाण नहीं है, यह कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि जहाँ प्रमाण है, वहाँ-वहाँ वस्त्वन्तराधीन ही प्रमाण-व्यवहार हुआ करता है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ उसके स्वभाव-भेद से ही व्यवहार होता है, ऐसी अवस्था है, तो यहाँ भी प्रमाण होने से ही स्वरूप से अतिरिक्त शक्ति का अङ्गीकार कर लेना चाहिए, ऐसी स्थिति में स्वभाववाद का अवलम्बन अनावश्यक है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 103)

इस तरह अर्थापत्ति के अतिरिक्त—“**वह्नि: अद्दिष्टातीन्द्रीयस्थितिस्थापकेतरभावाश्रय: गुणवत्वात् घटवत्।**” यह अनुमान भी शक्ति के अस्तित्व में प्रमाण है। ईश्वर मानने वालों के मत में अतीन्द्रियता सिद्ध नहीं है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय शब्द का अर्थ है प्रमाणान्तर से उपनीत विशेषण के अतिरिक्त और अनुव्यवसाय के अतिरिक्त अस्मदादि प्रत्यक्ष का अविषय होना। वह अतीन्द्रियत्व गुरुत्वादि और भावनादि में प्रसिद्ध होने से प्रशस्तपाद ने कहा है कि गुरुत्व, धर्माधर्म और भावना अतीन्द्रिय है—

गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रिय:।

यहाँ भावना पद स्थितिस्थापक का भी उपलक्षण है। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ आश्रय शब्द से आधार मात्र विवक्षित है या उसका समवायित्व? वह्नि कदाचित् परमाणु या वायु का आधार होकर सिद्धसाधनता होने से प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि समवाय न मानने वाले भाट्ट के मत में विशेषण अप्रसिद्ध हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समवाय न मानते हुए भी स्वीय रूपादि के समान अयुत सिद्ध होने के कारण अग्नि की विशिष्ट धर्माधारता ही आश्रय शब्द का अर्थ है। अतीन्द्रिय कर्माश्रय होने से मीमांसक की अर्थान्तरता कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रभाकर की तरह शक्ति मानने वाले भाट्ट और वेदान्ती भी कर्म की अतीन्द्रियता नहीं मानते। विपक्ष में वह्निस्वरूप ही कारण होने से प्रतिबन्ध के भाव को कारणता का पहले ही निराकरण किया जा चुका है, अत: मन्त्रादि के रहने पर समान रूप से कार्य-जननप्रसङ्ग बाधक है। यह भी कहना ठीक नहीं कि एवंविध धर्माश्रय होने से गुण-कर्मादि भी द्रव्य कहे जायेंगे, क्योंकि वे गुण के अधिकरण नहीं है। यदि कहा जाय कि एतादृश धर्माश्रय होने से गुणाधिकरण भी हो जाय, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसका विपर्यय में पर्यवसान नहीं होता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 104)

यदि कहा जाय कि जो गुण का अधिकरण नहीं है, वह एवंविध धर्म का अधिकरण नहीं होता, ऐसा प्रतिवादिसम्मत उदाहरण होने से उक्त प्रसङ्ग का विपर्यय में पर्यवसान हो जायगा, क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त सभी पक्ष कोटि में निक्षिप्त है। इस तरह प्रथम अनुमान का समर्थन किया गया।

अब यदि दूसरे अनुमान के सम्बन्ध में कहा जाय कि वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं, इसलिये उभय वादिसम्मत होने के कारण तदतिरिक्त न होने से ईश्वर अर्थान्तर न हो, पर ईश्वर न मानने वाले मीमांसकों को तो ईश्वर से अर्थान्तरता होती है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जन्यभाव से जन्य ऐसा दूसरा विशेषण देकर भाट्ट के मत में अर्थान्तर का परिहार किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में नित्य पदार्थों में शक्ति का समर्थन न किया जा सकेगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अनित्य पदार्थों में शक्ति सिद्ध हो जाने पर उसी दृष्टान्त से नित्य पदार्थों में भी शक्ति की ही सिद्धि हो सकती है। शक्ति एक ही नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न है। जैसे कि अवयवावयवि में अनित्य होने पर भी जल, तेज आदि के परमाणुओं में रूप जैसे नित्य है, वैसे ही नित्य-अनित्य रूप से शक्ति भी दो प्रकार की मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आधेय शक्ति को भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' इत्यादि द्वितीया श्रुतियों में व्रीहि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है। (*भक्तिसुधा*, पृ. 104)

चेतन धर्म अदृष्ट का अचेतन व्रीहि आदि में रहना सम्भव न होने से व्रीह्यादिविषयकक्रियाजन्यमात्र होने से ही तदीयत्व की प्रतिपत्ति हो सकती है, अत: वहाँ द्वितीया श्रुति गौण है, ऐसा जो कहा गया था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्मरूप अदृष्ट से अतिरिक्त ही कोई एक अतिशय मान्य है, जो तण्डुल, पिष्ट, पुरोडाशादि परम्परा से प्रधानापूर्व उत्पन्न करता है। इसे न मानें, अर्थात् व्रीह्यादि स्वरूप से ही यदि उस प्रधानापूर्व को उत्पन्न कर सकते, तो प्रोक्षणादि विधान व्यर्थ हो जायगा। दृष्ट फल न दिखलायी पड़ने पर अदृष्ट फल की कल्पना करनी पड़ती है और मुख्य अर्थ सम्भव होने पर लक्षणा करने का अवकाश नहीं रहता। (*भक्तिसुधा*, पृ. 104)

इस प्रकार न्यायलीलावतीकार के दिये हुए दूषण का भी निराकरण किया गया है। शक्ति के अस्तित्व में उपर्युक्त रीति से आगम, अर्थापत्ति और अनुमानरूप प्रमाणों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करने से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रमाण से शक्तिसिद्ध नहीं होती। करपात्रीजी के द्वारा किया गया यह न्यायलीलावतीकार का खण्डन अभूतपूर्व और मननीय है तथा इनकी अद्‌भुत तार्किक प्रतिभा का उत्कृष्ट मानदण्ड है। इसके बाद आगम सिद्ध शक्ति की महिला सुतरां सिद्ध हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सहआचार्य,
दर्शनविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

अन्तर्याग और मानस-पूजा का रहस्य

स्वामी निगमानन्द सरस्वती परमहंसदेव

दीक्षा ग्रहण कर प्रतिदिन इष्टदेवता की पूजा करनी होती है। इससे इष्टनिष्ठा और भक्ति की वृद्धि होकर भगवान् में तन्मयता जन्मती है। किन्तु यह पूजापद्धति, मन्त्र और देवताभेद से भिन्न है। इसी कारण सर्वप्रकार देवताओं की बाह्य पूजापद्धतियाँ इस ग्रन्थ में लिपिबद्ध करना साध्यायत्त नहीं है। अत: सभी अपने-अपने कल्पोक्त विधानानुसार बाह्यपूजा का सम्पादन करें। हमारे देश में पटलगुरु (गुरुगण) शिष्य को बाह्यपूजा की पद्धतियाँ प्रदान करते हैं। उसके अतिरिक्त पद्धतिग्रन्थादि में भी पूजा-प्रणालियाँ लिखित हुई हैं। अतएव हमने बाह्यपूजा के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा।

सर्वप्रकार के बाह्यपूजा में ही अन्त:पूजा का विधान है अर्थात् बाह्यपूजा का करना हो, तो अन्त:पूजा भी करनी होगी। मानस-पूजा ही सर्वप्रकार की पूजाओं में श्रेष्ठ है; एकमात्र मानस-पूजा से ही सर्वार्थ-सिद्धि हो सकती है। पर सभी मानस-पूजा के अधिकारी नहीं होते; फलत: पहले बाह्य-पूजा का अनुष्ठान करें, बाह्यपूजा के साथ ही मानस-पूजा करनी होती है। इस तरह से कुछ दिन बाह्यपूजा के अनुष्ठान से जब अन्त:पूजा सुन्दररूप से अभ्यस्त हो जायेगी, तब और बाह्यपूजा की कुछ भी प्रयोजन नहीं है; केवल मानस-पूजा के करने से ही इष्टसिद्धि होगी। यथा—

अन्त:पूजा महेशानि बाह्यकोटिफलं लभेत्।
सर्वपूजाफलं देवि प्राप्नोति साधक: प्रिये।। —*भूतशुद्धि-मन्त्र*

अर्थात् एक बार की हुई अन्त:पूजा करोड़ बाह्यपूजाओं का फल प्रदान करती है। एकमात्र अन्त:पूजा से ही साधक सकल पूजाओं का फललाभ कर सकता है।

जिस कारण से उपचारों के प्राचुर्य के बिना बाह्यपूजा निष्फल होती है, इसीलिए अन्त:पूजाधिकारी के लिए बाह्यपूजा विडम्बना मात्र है। वही जगद्गुरु योगीश्वर ने कहा है—

मनसाऽपि महादेव्यै नैवेद्यं दीयते यदि।
यो नरो भक्तिसंयुक्तो दीर्घायु: स: सुखी भवेत्।।
माल्यं पद्मसहस्रस्य मनसा य: प्रयच्छति।
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च।।
स्थितो देवीपुरे श्रीमान् सार्वभौमो भवेत् क्षितौ।

मनसाऽपि महादेव्यै यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
स दक्षिणे यमगृहे नरकाणि न पश्यति।।
मनसाऽपि महादेव्यै यो भक्त्या कुरुते नतिम्।
सोऽपि लोकान् विनिर्जित्य देवीलोके महीयते।। — *गन्धर्वतन्त्र।*

जो मनुष्य भक्तियुक्त होकर मन:कल्पित नैवेद्यों द्वारा महादेवी की पूजा करता है, वह दीर्घायु एवं सुखी होता है। जो व्यक्ति मन:कल्पित सहस्र-पद्मों की माला देवी को प्रदान करता है, वह शतसहस्र-कोटि-कल्पकाल तक देवीपुर में वास करके पृथिवी का सार्वभौमत्व प्राप्त करता है। जो व्यक्ति देवी की मानस-प्रदक्षिणा करता है, वह यमगृह में नरक का दर्शन नहीं करता। जो व्यक्ति भक्ति के साथ देवी को मानस-नमस्कार करता है, वह समस्त लोकों को जीतता हुआ देवीलोक में गमन करता है।

पाठक! मानस-पूजा की श्रेष्ठता और उपकारिता को शायद समझ गए होंगे? तान्त्रिक-साधक प्रतिदिन यथाविधि एकमात्र अन्तर्याग या मानस-पूजा के अनुष्ठान करने से सर्वसिद्धि प्राप्त कर सकता है। मानस-पूजा के क्रम में, यथा—

शुभ आसन पर पूर्वास्य (पूर्वमुख) अथवा उत्तरास्य होकर उपवेशनपूर्वक अपने हृदय में सुधासमुद्र का ध्यान करें एवं उसके मध्य में सुवर्ण-बालुकामय तथा विकसित-कुसुमान्वित, मन्दार तथा पारिजातादि वृक्षों से परिशोभित, सर्वदा ही जिन वृक्षों में फल और पुष्प उगते हो, एवंविध वृक्षों से युक्त रत्नदीप है—जिसके चतुर्दिक् नानाविध कुसुमगन्ध से आमोदित है, जिस स्थान पर भ्रमरकुल विकसित-कुसुमामोद से प्रहृष्ट हैं, जो स्थान सुमधुर कोकिल-गान से प्रतिध्वनित है, विकसित स्वर्गीय सुवर्ण-पङ्कजसकल जिसकी शोभा वर्धन कर रहे हैं एवं जो स्थान मनोहर वस्त्र, मौक्तिकमाला और कुसुममालाओं से अलङ्कृत तोरण से परिशोभित है, एवंविध रत्नदीप का ध्यान करें।

उसके अनन्तर उस रत्नदीपाभ्यन्तर में चतुर्वेदरूप चतु:शाखा-विशिष्ट, सत्त्वादिगुणत्रयसमन्वित, पीत, कृष्ण, श्वेत, रक्त, हरित एवं विचित्र वर्णों के पुष्प-परिशोभित, कोकिल-भ्रमरादि-पक्षिगण-विमण्डित कल्पपादप का ध्यान करें। इस प्रकार के कल्पद्रुम का ध्यान कर उसके अधोभाग में रत्नवेदिका का ध्यान करें।

अनन्तर में उसके उपरिभाग में बालारुण के समान रक्तवर्ण रत्ननिर्मित सोपानवलीयुक्त ध्वजयुक्त चतुर्द्वारान्वित नाना रत्नालङ्कृत रत्ननिर्मित प्राकारवेष्टित स्व स्व स्थानस्थित लोकपालों के द्वारा अधिष्ठित, क्रीड़ाशील सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, महोरग, किन्नर और अप्सरागण-परिव्याप्त, नृत्य एवं गीतवाद्यनिरत सुरसुन्दरीगणयुक्त, किङ्किणीजालयुक्त पताकालङ्कृत, महामाणिक्य, वैदुर्य और रत्नमय चामर-भूषित, लम्बमान स्थूल-मुक्ताफलालङ्कृत चन्दन, अगुरु और कस्तूरी द्वारा विलिप्त सुमहत् रत्नमण्डप का ध्यान करके उसके मध्य में महामाणिक्य-वेदिका का ध्यान करें एवं इस वेदिका के आभ्यन्तर में प्रात:

सूर्यकिरणारुणप्रभ चतुष्कोणशोभित ब्रह्माविष्णुशिवात्मक सिंहासन का ध्यान करें। अनन्तर उक्त सिंहासन पर प्रसूनतुलिका का न्यास करें।

उसके बाद सङ्कल्पोक्तक्रम से पीठपूजा करके प्रेत-पद्मासन पर इष्टदेवता का ध्यान करें। अनन्तर इष्टदेवता को रत्नपादुका प्रदान कर उन्हें स्नानमन्दिर में आनयन करें एवं कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, मृगमद, गोरोचना और कुङ्कुमादि नाना गन्धद्रव्यों से सुवासित जलद्वारा इष्टदेवी के समस्त शरीर का उद्वर्तन करके उसमें सुगन्धी तैल का लेपन करें। उसके बाद सहस्रकुम्भ जलों से देवी को स्नान करा कर वस्त्र द्वारा गात्रमार्जनपूर्वक वस्त्रयुगल परिधान करायें। बाद में कंघी से केश संस्कार करके ललाट पर तिलक, माँग में सिन्दूर, हाथों में हस्तिदन्तविनिर्मित शङ्ख, केयूर, कङ्कण और वलय, पादपद्म में नानारत्नविनिर्मित अङ्गुलियक, नूपुर, नासिका के अग्रभाग में गजमुक्ता, कर्णों में रत्ननिर्मित दुल, कण्ठ में रत्नहार और सुगन्धी पुष्पमाला का प्रदान कर सर्वाङ्ग में चन्दन और सिह्लक (गन्धद्रव्यविशेष) का लेपन करें। उर:स्थल पर नाना कारुकार्यान्वित सुवर्णखचित कञ्चुलि का परिधान करायें एवं नितम्ब में रत्नमेखला का प्रदान करें। (पञ्च उपासकों में प्रत्येक ही अपनी इष्टदेवता के ध्यानानुसार आसनावाहनादि की कल्पना कर लें। इस ग्रन्थ में हम देवीमूर्ति के उद्देश्य से ही समस्त विषयों को लिपिबद्ध करेंगे)

अनन्तर समाहितचित्त से देवी का चिन्तन करते हुए भूतशुद्धि और नानाविध न्यास करके षोडश उपचार से हृदयस्थिता देवी की अर्चना करें। उपवेशनार्थ रत्नसिंहासन प्रदान करके स्वागत प्रणाम करें। पादपद्म में पाद्य का अर्पण करें, मस्तक में अर्घ्यार्पण एवं परामृतरूप आचमनीय का मुखसरोरुह में प्रदान करें। मधुपर्क और त्रिधा आचमनीय का मुख में प्रदान करें। सुवर्णपात्रस्थ परिष्कृत परमान्न, कपिला गाय के घी से युक्त सव्यञ्जनान्न, सागरतुल्य अमेय मद्य, पर्वतपरिमित मांस, राशिकृत मत्स्य, नानाविध फल, सुवासित जल एवं कर्पूरादि मसाला संयुक्त ताम्बुल प्रभृतियाँ चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय इन चतुर्विध मानस उपचारों द्वारा देवी की अर्चना करें। अनन्तर आवरण-देवता की पूजा करके जप करना होता है।

प्रोक्त मानस-पूजा गुरूपदिष्ट विधान है, उसके अतिरिक्त शास्त्रों में भी मानस-याग का विधान है। यथा—

हृत्पद्मासनं दद्यात् सहस्रारच्युतामृतैः।
पाद्यं चरणयोर्दद्यान्मनस्त्वर्घ्यं निवेदयेत्।।
तेनामृतेनाचमनीयं स्नानीयं तेन च स्मृतम्।
आकाशतत्त्वं वस्त्रं स्याद् गन्धः स्याद् गन्धतत्त्वकम्।।
चित्तं प्रकल्पयेत् पुष्पं धूपं प्राणान् प्रकल्पयेत्।
तेजस्तत्त्वञ्च दीपार्थं नैवेद्यं स्यात् सुधाम्बुधिः।।
अनाहतध्वनिर्घण्टा वायुतत्त्वञ्च चामरम्।

सहस्रारं भवेच्छत्रं शब्दतत्त्वञ्च गीतकम्।।
नृत्यमिन्द्रियकर्माणि चाञ्चल्यं मनसस्तथा।
सुमेखलां पद्ममालां पुष्पं नानाविधं तथा।।
अमायाद्यैर्भावपुष्पैरचर्ययेद्भावगोचराम्।
अमायमनहङ्कारमरागममदं तथा।
अमोहकमदम्भञ्च अद्वेषाक्षोभकौ तथा।
अमात्सर्यमलोभञ्च दशपुष्पं विदुर्बुधाः।।
अहिंसा परमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
दयापुष्पं क्षमापुष्पं ज्ञानपुष्पञ्च पञ्चमम्।।
इति पञ्चदशैर्भावपुष्पैः सम्पूजयेच्छिवाम्।
सुधाम्बुधिं मांसशैलं मत्स्यशैलं तथैव च।।
मुद्राराशिं सुभक्ष्यञ्च घृताक्तं परमान्नकम्।
कुलामृतञ्च तत्पुष्पं पञ्च तत्क्षालनोदकम्।।
कामक्रोधौ छागवाहौ बलिं दत्त्वा प्रपूजयेत्।
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले गगने च जलान्तरे।।
यद्यत् प्रमेयं तत् सर्वं नैवेद्यार्थं निवेदयेत्।
पाताल–भूतल–व्योमचारिणो विघ्नकारिणः।
तांस्तानपि बलिं दत्त्वा निर्द्वन्द्वो जपमारभेत्।।

साधक अपने हृत्पद्म को आसनरूप में कल्पना कर उसमें अभीष्ट देवता को बिठा लें। उसके बाद सहस्रार–विगलित–अमृत को पाद्यरूप से कल्पना कर उसके द्वारा इष्टदेवता के चरण विधौत करें। मन का अर्घ्यरूप में प्रदान करें। पूर्वोक्त सहस्रार अमृत को आचमनीय और स्नानीय, देहस्थ आकाश–तत्त्व को वस्त्र, पृथिवी–तत्त्व को गन्ध, चित्त को पुष्प, घ्राण को धूप, तेज को दीप, सुधासागर को नैवेद्य, अनाहत–ध्वनि को घण्टाशब्द, शब्दतत्त्व को गीत, इन्द्रियचापल्य को नृत्य, वायुतत्त्व को चामर, सहस्रार–पद्म को छत्र, हंस के मन्त्र अर्थात् स्वास–प्रश्वास को पादुका एवं पद्मकार नाड़ीचक्र को पद्माला की कल्पना करके, अमाया, अनहङ्कार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य एवं अलोभ वे भावमय दश पुष्प हैं और अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, दया एवं क्षमा, ये पाञ्च पुष्पों को देवी को प्रदान करें। उसके पश्चात् सागरतुल्य सुधा (मद्य), पर्वततुल्य मत्स्य और मांस, नानाविध सुभक्ष्य मुद्रा एवं स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, गगन और जल में जिस–जिस स्थान पर जो–जो प्रमेय विद्यमान हैं, उन समुदाय को नैवेद्य एवं काम को छाग, क्रोध को महिषरूप में कल्पना करके विघ्नकारिगण की पृथक् पृथक् बलि चढाएँ। अनन्तर में जप आरम्भ करें।

इस द्विविध अन्तर्याग में से मन को परिष्कृत रखकर एकचित्त से किसी एक को करने से भी होता है। जप की प्रणालियाँ यथा—

मानस-जप की माला पचास वर्णों होते हैं। इन्हें गूँथने के सूत्र शिव-शक्ति हैं और ग्रन्थि कुण्डलिनी-शक्ति एवं मेरु नाद-बिन्दु हैं। वर्णमयी इस माला के जप करने की प्रणाली इस तरह है कि—प्रत्येक वर्णों को मन्त्र और बिन्दु से युक्त कर लें यथा—क बीजमन्त्र कं। अकारादि हकारान्त वर्णों से अनुलोम और हकारादि अकारान्त वर्णों से विलोम—इन दोनों के मिलन से एक सौ होता है। अ से लेकर समुदाय स्वरवर्ण एवं क से लेकर समुदाय व्यञ्जनवर्ण हैं, ये सब मिलकर पचास होते हैं; एकबार अ से ह तक पचास, फिर ह से अ तक पचास—कुल एक सौ होते हैं। क्ष वर्ण मेरु है अर्थात् माला परिवर्तन की या जपारम्भ की या जपसमाप्ति की सीमा अथवा साक्षी है। उसमें मन्त्र का योग न करें। इस तरह से सौ जप और आठ वर्गों की आदि अं, कं, चं, टं, तं, पं, यं, शं, इन अष्टवर्ण से आठ जप—इनके समुदाय से एक सौ आठबार जप होते हैं। साधक इच्छा करने से एक हजार आठ बार भी जप कर सकते हैं। इस प्रकार से मानस-पूजा और जप करके बाद में जपसमर्पण के अन्त में प्रणाम करें—

सर्वान्तरात्मनिलये स्वात्मज्योतिः स्वरूपिणि।
गृहाणान्तर्जपं मातराद्ये कालि नमोऽस्तु ते।।

उसके अनन्तर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, ये पञ्चदेवता देवी के पर्यङ्क हैं; उक्त पर्यङ्क में नानापुष्पविनिर्मित दुग्धफेननिभ शय्या की रचना कर उसमें देवी की सुख-शयाना चिन्तनपूर्वक देवी की पादसेवन एवं चामर व्यजन करें। उसके बाद नृत्य, गीत एवं वाद्य द्वारा देवी को परितुष्ट कर पूजा की सार्थकता के लिए होम करें।

अन्तर्होम सद्य सिद्धिप्रद होता है—इसके अनुष्ठान से मनुष्य चिन्मयता प्राप्त करता है। आधारपद्म में चिदग्नि में होम करें। अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, इन आत्मत्रितयरूप—चतुष्कोण आनन्दरूप मेघला (मेघाच्छन्न) और बिन्दुरूप त्रिवलययुक्ता नादविन्दुरूपा योनि से युक्त चित्कुण्ड का चिन्तन करें। इस कुण्ड के दक्षिण में पिङ्गला, वामभाग में इड़ा एवं मध्य में सुषुम्ना-नाड़ी का ध्यान करके धर्म और अधर्मरूप कल्पित घृत के द्वारा यथाविधि होम करें।

पहले मूलमन्त्र, उसके बाद—

नाभौ चैतन्यरूपाग्नौ मनसा हविषा स्रुचा।
ज्ञानप्रदीपिते नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम्।।

यह मन्त्र, बाद में चतुर्थ्यन्त देवता का नाम, उसके अनन्तर स्वाहा, इस मन्त्र से आहुति प्रदान करें।

इसी तरह पहले मूलमन्त्र, बाद में—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषम्नावर्त्मना नित्यं ब्रह्मवृत्तिर्जुहोम्यहम्।।

यह मन्त्र, उसके बाद चतुर्थ्यन्त देवता का नाम, उसके बाद स्वाहा, इस मन्त्र से द्वितीयाहुति प्रदान करें।

उसके पश्चात् पहले मूलमन्त्र, उसके बाद——

प्रकाशाकाशहस्ताभ्यां अवलम्ब्योन्मनीस्रुचा।
धर्माधर्मकलास्नेहपूर्णमग्नौ जुहोम्यहम्।।

यह मन्त्र, बाद में चतुर्थ्यन्त देवता का नाम, उसके बाद स्वाहा, इस मन्त्र से तृतीयाहुति प्रदान करें।

इसके अनन्तर मूलमन्त्र के बाद——

अन्तर्निरन्तर–निरिन्धनमेधमाने मायान्धकार–परिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकाशभूमौ विश्वं जुहोमि वसुधादि–शिवावसानम्।

यह मन्त्र, बाद में चतुर्थ्यन्त देवता का नाम, उसके बाद स्वाहा, इस मन्त्र से चतुर्थाहुति प्रदान करें।

उसके अनन्तर

इदन्तु पात्रभरितं महत्तापपरामृतम्।
पूर्णाहुतिमये वह्नौ पूर्णहोमं जुहोम्यहम्।।

यह मन्त्र, बाद में चतुर्थ्यन्त देवता का नाम, उसके बाद स्वाहा, इस मन्त्र से पूर्णाहुति प्रदान करें।

(मन्त्रसमूह किस तरह भावपूर्ण और हृदयग्राही है। पाठकों की अवगति के लिए कतिपय होममन्त्र का हिन्दी–अनुवाद प्रदत्त हो रहा है। प्रथम मन्त्र——मेरे नाभिस्थित चैतन्यरूप हुताशन इस समय ज्ञान के द्वारा प्रदीप्त हुआ है। मैं मनोमय स्रुवा के द्वारा धर्माधर्मरूप घृत के साथ इन्द्रियवृत्ति–समूह की आहुति दे रहा हूँ। द्वितीय मन्त्र——धर्माधर्मरूप घृत के द्वारा समुद्दीप्त आत्मरूप अग्नि में सुषुम्नापथ के द्वारा मनोमय स्रुवा से मैं इन्द्रियवृत्ति–समूह की आहुति प्रदान कर रहा हूँ। तृतीय मन्त्र——मैं प्रकाश और आकाशरूप हस्तद्वय के द्वारा उन्मनीरूप स्रुवा के सहारे धर्माधर्म और स्नेह–विकाशरूप घृत की आहुति दे रहा हूँ। चतुर्थ मन्त्र——जिनसे अद्भुत दिव्यज्योति: का प्रकाश हो रहा है। जो मायान्धकार को दूर करते हुए मेरे अन्तर में निरन्तर प्रज्वलित और प्रदीप्त हैं, उन अव्यक्त अद्भुत किरणों से भूषित संविद्रूप अग्नि में वसुमती से लेकर शिव पर्यन्त जगत् और समस्त मायाप्रपञ्च की आहुति दे रहा हूँ। पूर्णाहुति मन्त्र——मेरे मनोमय पात्र को आध्यात्मि, आधिभौतिक और आधिदैविक इस तापत्रयरूप घृत से परिपूरित कर पूर्णाहुति प्रदान करते हुए होम समाप्त कर रहा हूँ।)

इस प्रकार से अन्तर्याग अर्थात् मानस-पूजा, जप और होम के करने से देही ब्रह्ममय हो जाता है। परन्तु जब तक प्रकृत ज्ञानलाभ नहीं होता, तब तक बाह्यपूजा भी करनी होगी। यथा—

बाह्यपूजा प्रकर्तव्या गुरुवाक्यानुसारत:।
बहि:पूजा विधातव्या यावज्ज्ञानं न जायते।। —*वामकेश्वर तन्त्र।*

जब तक प्रकृत ज्ञान नहीं होता है, उतने दिन गुरु की आज्ञानुरूप से बाह्यपूजा का करना कर्त्तव्य है। योगिगण एवं मुनिगण केवल मानस-पूजा ही करते हैं, न कि बाह्य-पूजा। किन्तु गृही साधक केवल मानस-पूजा के द्वारा सिद्धिलाभ नहीं कर सकते। यही कारण है कि उनके लिए बाह्य और मानस, इस उभयविध पूजा का करना आवश्यक है।

यहाँ पर साधक को एक और बात याद रखनी होगी, कि पूजाकाल में अपनी गोद में बायँ हाथ पर दाहिने हाथ रखकर ही कार्य करें। स्त्री-देवता के ध्यानकाल में इसके विपरीत नियम ही आचरणीय है। मानसिक जप का नियम किसी अभिज्ञ साधक से एकबार देख लेने पर अच्छा होता है। शाक्त-वैष्णवादि पञ्च उपासकगण मानस-पूजा काल में पञ्चदशविध भावपुष्पों द्वारा इष्टदेवता की अर्चना करें। यहाँ तक ही साधारणों का अधिकार है। केवल पूर्णाभिषिक्त शाक्त ही इसके बाद में लिखित उपचारों द्वारा पूजा कर सकेंगे। जबकि मानस-पूजा और जप के बाद होम करना एकान्त कर्त्तव्य है। जिस तरह से जप के बिना पूजा निष्फला होती है, वैसे ही होम के नहीं करने पर उस पूजा से किसी फल की भी प्राप्ति नहीं होती। यथा—

नाजप्त: सिध्यति मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रद:।
विभूतिश्चाग्निकार्येण सर्वसिद्धिश्च विन्दति।।

होम के न करने पर मन्त्र कोई भी फल प्रदान नहीं करता। होम करने से सर्वविध सम्पत्तिलाभ और सर्वकार्य की सिद्धि होती है। साधकगण यथारीति अन्तर्याग के अनुष्ठान करने से सर्वसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अतएव अन्तर्यागात्मिका पूजा करना सभी का कर्त्तव्य है एवं अन्तर्याग सर्वोत्तमोत्तम है। यथा—

'अन्तर्यागात्मिका पूजा सर्वपूजोत्मोत्तमा।'

(तान्त्रिकगुरु से साभार)

शिवमहिम्नः स्तोत्र का आगमिक स्वरूप और साधना

डॉ. श्रीरुद्रदेवजी त्रिपाठी

भारतीय देव-स्तोत्र-साहित्य अपनी विशालता, विविधता और विशिष्टता के कारण अत्यन्त उपादेय है। आगम-ग्रन्थों में स्तोत्र को उपासना का एक प्रमुख अङ्ग बतलाकर साधनोपयोगी पाँच अङ्गों में जिह्वारूप कहा है। 'स्तोत्रं देवीरसा प्रोक्ता'—स्तोत्र भगवती वाग्देवी की जिह्वा है। समस्त वाङ्मय की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती वाणी के रूप में आविर्भूत होकर इष्टदेव की स्तुति करती है। रसमयता के कारण स्तोत्र, स्तोता एवं स्तोतव्य की त्रिवेणी एक अद्‌भुत रस-स्वरूप बनकर अखिल ब्रह्माण्ड को तद्रूप बना देती है। इसीलिये कालिदास ने कहा है कि—'**स्तोत्रं कस्य न तुष्टये**?' स्तोत्र किये अच्छा नहीं लगता, किसे संतुष्ट नहीं करता? 'स्तोत्र' शब्द स्वयं प्रशंसा का ही तो पर्याय है। महर्षि पाणिनि ने 'ष्टुञ्' धातु को इसी अर्थ में समाविष्ट बताकर उसका अर्थ स्तुति करना किया है। साहित्य की समस्त विधाएँ अथवा वाग्व्यवहार के जितने भी प्रकार होते हैं, हो सकते हैं, वे सभी स्तोत्र की परिधि में आ जाते हैं। अव्यक्त और व्यक्त भावों की अक्षरात्मक अभिव्यक्ति स्तोत्ररूप ही तो है। चराचर जगत् की अखिल चेष्टाएँ तथा ध्वनियाँ अहर्निश उस परमपिता परमात्मा की स्तुति में ही तल्लीन हैं। प्रकृति का पूरा परिवेश स्तोत्र में ही व्याप्त है और उसका वाङ्मय रूप स्तोत्र ही है।

शिवोपासना की चिरन्तनता

आदिदेव महादेव परम दयालु, आशुतोष हैं। सीधी-सादी भक्ति से प्रसन्न होने वाले सर्वमङ्गलकारी भगवान् शिव की आराधना-उपासना चिरकाल से देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मानव आदि सभी करते आये हैं। वेदों में शिव की महिमा का वर्णन अत्यन्त उत्कृष्टता से हुआ है और वेदोपदिष्ट मार्ग का ही अनुसरण करते हुए विद्वान् साधकों ने शिव की महिमा को लौकिक संस्कृतभाषा के आश्रय से स्तोत्रों द्वारा पल्लवित किया है।

स्तोत्र-रचना का अविरल प्रवाह अनेकविध तरङ्गों, लहरियों और धाराओं में बढ़ता हुआ निखिल विश्व को आप्यायित करता आ रहा है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के द्वारा दृष्ट क्रौंचवध की घटना से सहसा आविर्भूत श्लोक की भाँति स्तोत्र-साहित्य की सृष्टि की पृष्ठभूमि भी किसी-न-किसी घटना से सम्पृक्त है। पीड़ा की कसक से उपजी आर्त किन्तु प्रार्थनारूप वाणी ही स्तोत्र की जन्मस्थली है और यही वाणी स्तोतव्य तथा स्तोता की भावना, भक्ति एवं विद्यावैभव की भव्यता से तरतमता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु आत्मनिवेदन की शुचिता का दर्शन सर्वत्र समान ही रहता है।

समस्त वेद तथा वेदान्त का सार एवं परमतत्त्व शिव ही हैं। इसलिये *'आश्वलायन-सूत्र'* में तथा *'रुद्राध्याय'* आदि में सभी वस्तुओं को शिव का सद्भाव कहा है। एक महेश्वर ही अखिल मूर्तियों में उपास्य हैं—**'प्रतिपाद्यो महादेवः स्थितः सर्वासु मूर्तिषु'** (*स्कन्दपुराण*) के अनुसार समस्त मूर्तियों में प्रतिपाद्य महादेव ही हैं। शिव की महिमा अगम्य, अनन्त तथा अवर्णनीय है। *श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कन्ध में स्वयं ब्रह्माजी ने दक्षयज्ञ में शिव के क्रोध की शान्ति की इच्छा रखने वाले देवताओं से कहा है कि—

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा तस्यात्मतन्त्रस्य कथं विधित्सेत्।।

ब्रह्मा, विष्णु, ऋषि और मुनि आदि कोई भी उन भगवान् शिव के बल एवं वीर्य की महिमा को नहीं जानते। ऐसे अपार महिमामय भगवान् शिव की महिमा का वर्णन उनके अनन्य सेवक गन्धर्वराज श्रीपुष्पदन्त ने स्व-महिमा से भ्रष्ट होने पर पुनः अपनी उस महिमा-प्राप्ति के लिए किया। वह स्तोत्र गङ्गाधर शिव की प्रीति के लिये 'शिखरिणी' छन्द में गाया गया। शिखर से भूतल पर अवतरित भगवती भागीरथी की मङ्गलमय स्वरलहरी से गुञ्जित शिखरिणी-छन्द गङ्गा के समान ही शिवजी को परम प्रिय है, इस रहस्य का ज्ञान श्रीपुष्पदन्त ने उनकी सेवा में रहते हुए प्राप्त किया था, अतः उसीको आधार बनाकर गुण-कथन-पुण्य से अपनी वाणी को पावन करते हुए प्रार्थना-स्तोत्र की रचना की। स्तोत्र का प्रारम्भ 'महिम्नः' पद से होने के कारण सद्यःस्मृति के लिए उसे 'महिम्नः स्तोत्र' की संज्ञा दी गयी।

महिम्नः स्तोत्र के आविर्भावक 'शिव'

यद्यपि यह सुप्रसिद्ध है कि 'महिम्नःस्तोत्र' की रचना पुष्पदन्त नामक गन्धर्वराज ने अपनी महिमा की पुनः प्राप्ति के लिए की। तथापि ऐसे बहुत-से प्रमाण मिलते हैं कि इसे स्वयं भगवान् शिव ने अपने 'भृङ्गी' नामक गण के बत्तीसों दाँतों पर बत्तीस पद्यों में अङ्कित दिखलाया था। उसका कारण भी यह था कि पुष्पदन्ताचार्य की इस स्तुति से भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें विलुप्त शक्ति की पुनरुपलब्धि का वरदान दिया था। उससे उनके मन में अभिमान जग गया। उसे अन्तःसाक्षी शिव ने भृङ्गी को निमित्त बनाकर दूर किया और इसे पुष्पदन्त भी समझ गये कि मेरे और सभी भक्तों के उद्धार हेतु भगवान् ने मुझे निमित्त बनाकर इस स्तोत्र को प्रकट किया है। अतएव काश्मीरी शैवग्रन्थों में इसे 'सिद्धस्तोत्र' की संज्ञा दी गयी है तथा भगवान् की मङ्गलमयी भक्ति और उनके सगुण-निर्गुण स्वरूप के साक्षात्कार का साधन भी माना गया है।

भगवान् शिव समस्त आगमों के प्रवक्ता हैं, उनके द्वारा प्रकाशित आगमिक साहित्य में स्तोत्र को भी आवश्यक अङ्ग माना गया है तथा निर्वाण-तन्त्र के अनुसार **'कलावगमसम्मतः'** के आदेशानुसार जो साधना-साहित्य वेद-पुराणादि से प्राप्त हो उसे भी कलियुग में आगमानुरूप बनाकर साधना करने से शीघ्र लाभ होता है। वैदिक गायत्री मन्त्र को भी इसीलिये आगमिक पद्धति से पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग मन्त्रों के बीच मूल गायत्री-मन्त्र को भी आगमिक रूप में जपने का विधान है, जो पूर्ण लाभकारी है।

महिम्नः स्तोत्र की आगमिकता के लिए तन्त्रों में यत्र-तत्र निर्देश प्राप्त हैं, जिनमें विनियोग, ऋष्यादिन्यास, कर-हृदया-दिन्यास, ध्यान, मुद्रा और पूजा-विधान के साथ ही काम्य-प्रयोग भी वर्णित हैं। उनमें से हमें जो स्वरूप प्राप्त हो सके हैं उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

विनियोग—**ॐ अस्य श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रस्य श्रीपुष्पदन्त ऋषिः, शिखरिण्यादिच्छन्दांसि, श्रीमदाशुतोषशिवो देवता, हौं बीजम्, जूं शक्तिः, सः कीलकं मम श्रीसाम्बसदाशिवप्रीत्यर्थे (अमुकफलप्राप्तये) पाठे, अभिषेके विनियोगः।**

ऋष्यादि न्यास—**श्रीपुष्पदन्तर्षये नमः (शिरसि), शिखरिण्यादिच्छन्दोभ्यो नमः (मुखे), श्रीमदाशुतोष-शिवदेवतायै नमः (हृदये), हौं बीजाय नमः (गुह्ये), जूं शक्तये नमः (पादयोः), सः कीलकाय नमः (नाभौ), विनियोगाय नमः (सर्वाङ्गे)।**

कर-हृदयादि न्यास	पहली बार	दूसरी बार
भवः शर्वो रुद्रः ० (पूरा श्लोक)।	अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।	हृदयाय नमः।
नमो नेदिष्ठाय० (पूरा श्लोक)।	तर्जनीभ्यां नमः।	शिरसे स्वाहा।
बहुलरजसे० (पूरा श्लोक)।	मध्यमाभ्यां नमः।	शिखायै वषट्।
मनः प्रत्यक्चित्ते० (पूरा श्लोक)।	अनामिकाभ्यां नमः।	कवचाय हुम्।
श्मशानेष्वाक्रीडा० (पूरा श्लोक)।	कनिष्ठिकाभ्यां नमः।	नेत्रत्रयाय वौषट्।
हरिस्ते साहस्रं० (पूरा श्लोक)	करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।	अस्त्राय फट्।

ध्यानम्—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्ततात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्।।

इसके पश्चात् आगे बताये गये श्लोकों को पूरा बोले और उनके पहले '**ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हौं जूं सः**' ये प्रणवयुक्त बीज लगाकर शिवजी की विशेष पूजा करनी चाहिये। यथा—

त्वमर्कस्त्वं सोम०	पादयोः पाद्यं समर्पयामि।
त्रयी सांख्यं योगः०	हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि।
भवः शर्वो रुद्रः०	आचमनीयं समर्पयामि।

नमो नेदिष्ठाय॰	जलस्नानं समर्पयामि।
बहलरजसे॰	दुग्धस्नानं समर्पयामि।
ऐं ह्रीं श्रीं हौं जूं सः॰ (बीजमन्त्र)	शुद्धजलस्नानं समर्पयामि।
मनः प्रत्यक्चिते॰	दधिस्नानं समर्पयामि।
(बीजमन्त्र)	शुद्धजलस्नानं समर्पयामि।
श्मशानेष्वाक्रीडा॰	घृतस्नानं समर्पयामि।
(बीजमन्त्र)	शुद्धजलस्नानं समर्पयामि।
स्वलावण्याशंसा॰	मधुस्नानं समर्पयामि।
(बीजमन्त्र)	शुद्धजलस्नानं समर्पयामि।
प्रजानाथं नाथ॰	शर्करास्नानं समर्पयामि।
(बीजमन्त्र)	शुद्धजलस्नानं समर्पयामि।
वियद्व्यापी तारा॰	पुनः शुद्धोदक स्नानं समर्पयामि।
क्रतौ सुप्ते जाग्रत्॰	वस्त्रं समर्पयामि।
रथः क्षोणी यन्ता॰	यज्ञोपवीतं समर्पयामि।
क्रियादक्षो दक्षः॰	पुनर्वस्त्रं समर्पयामि।
यदृद्धिं सुत्राम्णो॰	गन्धं समर्पयामि।
अकाण्डब्रह्माण्ड॰	अक्षतान् समर्पयामि।
असिद्धार्था नैव॰	भस्म समर्पयामि।
हरिस्ते साहस्रं॰	पुष्पाणि समर्पयामि।
अयत्नादापाद्य॰	बिल्वपत्राणि समर्पयामि।
तवैश्वर्यं यत्नाद॰	परिमलद्रव्यं समर्पयामि।
तवैश्वर्यं यत्तत्॰	(इत्र) सुगन्धिद्रव्यं समर्पयामि।
तवैश्वर्यं यत्नाद॰	धूपं समर्पयामि।
अमुष्य त्वत्सेवा॰	दीपं समर्पयामि।
महीपादाघाताद्॰	नैवेद्यं समर्पयामि।
नमो नेदिष्ठाय॰	नीराजनं समर्पयामि।
कृशपरिणति चेतः॰	पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि।
असितगिरिसमं॰	क्षमाप्रार्थनां समर्पयामि।
त्वमर्कस्त्वं सोमः॰	प्रदक्षिणां समर्पयामि।

इसके पश्चात् भक्तिपूर्वक 'महिम्न: स्तोत्र' का पाठ करे और उत्तरपूजा करके पाठ-समर्पण तथा क्षमा-प्रार्थना करके '**श्रीसाम्बसदाशिवार्पणमस्तु**' कहकर जल छोड़े।

पूर्वाङ्ग-विस्तार और उत्तराङ्ग-पूर्ति

यदि उपासक 'महिम्न:स्तोत्र' के पाठ को और भी विशिष्ट रूप देना चाहता हो तो वह पाठ से पहले इन स्तोत्रों का पाठ भी करें—

1. संकटनाशन श्रीगणेश-स्तोत्र।
2. तुलसीदासकृत रामचरित-मानसान्तर्गत शिवस्तोत्र '**नमामीशमीशान॰**' आदि।
3. दारिद्र्य-दहन-स्तोत्र '**दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय**' आदि।
4. '**वन्दे देवमुमापतिं॰**' और '**कर्पूरगौरं करुणावतारं॰**' आदि दोनों पद्य।
5. द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग-स्तोत्र '**सौराष्ट्रे सोमनाथं च॰।**'

और महिम्न:स्तोत्र के पश्चात् पुन: विलोमक्रम से उपर्युक्त पाँचों स्तोत्रों का पाठ करके उत्तर-पूजा-प्रार्थनादि करे।

विशिष्ट पूर्वाङ्ग-विधान

किसी भी मन्त्र अथवा स्तोत्र के द्वारा विशिष्ट कार्य की सिद्धि अपेक्षित होने पर उसके पूर्वाङ्ग का स्वरूप भी विशिष्ट ही होना चाहिये। ऐसी शास्त्राज्ञा है। 'महिम्न:स्तोत्र' से लक्ष्मी-प्राप्ति, दारिद्र्यनाश, शिवकृपा-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति-जैसी कामनाओं की पूर्ति के लिए 'विशिष्ट पूर्वाङ्ग-विधान' इस प्रकार है—

इसमें पहले 1. गुरुस्तोत्र, 2. संकटनाशन गणेशस्तोत्र, 3. श्रीतुलसीदासकृत शिवस्तोत्र के साथ अन्य कामनानुसारी स्तोत्र पाठ करके 'महिम्न:स्तोत्र' का पाठ और बीजमन्त्रों का लोम-विलोम सम्पुट-पाठ किया जाता है। यदि भय-असंतोष आदि के निवारण की अपेक्षा हो तो 'अष्टोत्तर-शत-भैरव-नामावलि' का आद्यन्त में पाठ करना उत्तम है। विद्या एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए '**सरस्वत्यष्टक**' '**रविरुद्रपितामह.**' से प्रारम्भ और '**तव नौमि सरस्वति॰**' तक का आद्यन्त में पाठ करे। 'हनुमान-चालीसा' और बगलामुखी स्तोत्र का पाठ भी आदि-अन्त में करने से वाद-विवाद आदि में अवश्य विजय प्राप्त होती है। ऋणनाश के लिए ऋणहर-गणपति स्तोत्र का पाठ करना चाहिये।

अन्य कामनापूरक प्रयोग

जिस प्रकार 'दुर्गासप्तशती' के किसी एक मन्त्र का स्वतन्त्ररूप से बीजमन्त्र लगाकर जप करने से कार्य-सिद्धि होती है, उसी प्रकार महिम्न:स्तोत्र के श्लोकों के प्रयोग करने का भी विधान मिलता है। यथा—

1. सर्वकामना-पूर्ति के लिये—'ऐं ह्रीं श्रीं हौं जूं स:' इन बीजमन्त्रों का प्रत्येक श्लोक के साथ लोम-विलोम पाठ करने से सिद्धि होती है।

2. दाम्पत्य-सुख के लिए—'ऐं ह्रीं श्रीं' का लोम-विलोम करके **'नमो नेदिष्ठाय०'** इत्यादि का जप।

3. समृद्धिप्राप्ति के लिए—स्वर्णाकर्षणभैरव के मन्त्र का सम्पुट लगाकर **'यदृद्धिं सुत्राम्णो०'** इत्यादि का जप।

4. संतति-सुख के लिये—'ऐं ह्रीं श्रीं' का आदि में और अन्त में **'श्री ह्रीं ऐं'** का सम्पुट लगाकर **'हरिस्ते साहस्रम्०'** पद्य का जप।

5. मानसिक पीडा-निवारण के लिए—'ऐं ह्रीं श्रीं' 'कृशपरिणति चेत:' इत्यादि पद्य और **'श्री ह्रीं ऐं'** का जप।

6. विजय के लिए—'श्री ह्रीं ॐ नमो नेदिष्ठाय०' इत्यादि पद्य और अन्त में **'ॐ ह्रीं श्रीं'** जोड़कर जप।

7. सम्मान-प्राप्ति के लिए—आदि में **'श्री ह्रीं क्लीं'** और अन्त में **'क्लीं ह्रीं श्रीं'** बीजमन्त्र लगाकर **'भव: शर्वो रुद्र:'** इत्यादि पद्य का जप।

8. विद्याप्राप्ति के लिए—'विशुद्धज्ञानदेहाय०' इत्यादि का सम्पुट लगाकर **'महिम्न:स्तोत्र'** का नित्य पूरा पाठ।

9. पुत्रप्राप्ति-प्रयोग—नारी निराहार (प्रातःकाल कुछ भी नहीं लेकर) स्नानादि करके पति के साथ प्रतिदिन गेहूँ के आटे के 11 पार्थिवेश्वर बनाये और उनकी ऊपर बताये अनुसार 'महिम्न:स्तोत्र' के श्लोकों से पार्थिव-पूजा करके 11 पाठ से अभिषेक करे। अभिषेक-जल ग्रहण करे और पुत्र प्राप्ति के लिए प्रार्थना करे। यह प्रयोग 21 अथवा 41 दिन तक करे।

बिना किसी कामना के भगवत्प्रीत्यर्थ इन प्रयोगों के अनुष्ठान की महिमा अमित है। निष्कामभाव से किये गये अनुष्ठान में त्रुटि होने पर प्रत्यवाय भी नहीं लगता तथा उसका फल भी अनन्त है।

(कल्याण शिवोपासनाङ्क से साभार)

सगुणोपासना एवं शिवतत्त्व का महत्त्व

प्रो. युगलकिशोर मिश्र

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार परमात्मा के दो स्वरूप हैं—(1) निर्गुण निराकार (2) सगुण-साकार। इनमें निर्गुण निराकार अर्थात् अव्यक्त रूप की उपासना प्राणियों के लिए अति दुष्कर है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते।। — *गीता,* 12/5

सगुण उपासना में अपेक्षाकृत सुगमता इसलिए है कि उपास्य तत्त्व के सगुण साकार होने के कारण साधक के मन-इन्द्रियों के लिए भगवान् के स्वरूप, लीला, कथा, नाम आदि का आधार रहता है। दूसरी बात यह कि सांसारिक आसक्ति, अज्ञान आदि को दूर करने के लिए वह साधक सार्वतोभावेन भगवान् पर ही आश्रित रहता है, अत: भगवान् उसके बन्धनों को हटाने के लिए सचेष्ट रहते हैं। तीसरी बात यह भी है कि मनुष्यों में कर्म करने की प्रवृत्ति तो जन्मजात रहती ही है केवल साधक को अपने भावों को बदलते हुए कर्म को भगवत्प्रीत्यर्थ या ईश्वरोन्मुख करने की इच्छा मात्र जागृत करनी होती है। यत: ईश्वर स्वभावत: परम कृपालु है अत: साधक की इन भली चेष्टाओं से आकृष्ट होकर वह यथाशीघ्र उनके क्लेशों एवं बन्धनों को दूर कर देता है। अतएव भारतीय संस्कृति में सगुणोपासना को विशेष महत्त्व दिया गया है।

निगम एवं आगम वाङ्मय में भगवान् 'शिव' जगन्नियन्ता एवं जगदीश्वर है। शिव का एक प्रसिद्ध नाम 'रुद्र' भी है। 'शिव' संज्ञा की व्युत्पत्ति देते हुए आचार्यों ने कहा कि—**शिवयति इति शिव:** अर्थात् जो परमेश्वर सर्वत्र शिवता उपपादित करे वह कल्याणकारी सर्वसुलभ तत्त्व 'शिव' है। इसी प्रकार 'रुद्र' शब्द की एक रोचक व्युत्पत्ति देते हुए आचार्यों का कथन है कि जो अपने भक्तों को शीघ्र ही (द्रुत) उपलब्ध हो जाता है अतएव इन्हें 'रुद्र' कहा जाता है। **यस्मात् ऋषिभिर्मान्यैर्भक्तै: द्रुतमस्य रूपमुलपभ्यते तस्मात् रुद्र:।**

शिव-तत्त्व समस्त साधकों के लिए उपास्य माने गये हैं। आगम सम्प्रदाय का वचन है कि—

शाक्तो वा वैष्णवो वापि सौरो वा गाणपोऽथवा।
शिवार्चनविहीनस्य कुत: सिद्धिर्भवेत् प्रिये।।

भगवान् शिव का भौतिक स्वरूप लिङ्गमय है। शास्त्रों का कथन है कि शिवलिङ्ग की अर्चना करने से समस्त देवी-देवताओं की अर्चना हो जाती है क्योंकि शिवलिङ्ग के मूल में 'ब्रह्मा', मध्य में 'विष्णु' और उपरिभाग में 'रुद्र' विराजित रहते है। कहा गया है कि—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः।
लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः
तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ।।

महाभारत के अनुसार धर्मराज युधिष्ठिर ने भीष्म से शिवतत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण की ओर संकेत कर दिया। श्रीकृष्ण ने कहा—उनकी महिमा अनन्त है। श्रीविष्णु ने अपने नेत्रकमल से भगवान् शिव की पूजा की तथा इस भक्त्युद्रेक से उन्हें सुदर्शनचक्र मिला। विष्णु और शिव उभय-उभयात्मा, उभय-उभयभावात्मा है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार वह एक ही रुद्र है, जो सब लोकों को अपनी शक्ति से वश में रखता है, अतएव वह 'ईश्वर' है। वह सब लोकों को उत्पन्न कर अन्तकाल में संहार भी करता है। वह अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र स्थित है। अतः शिवतत्व का विचार या ईश्वरतत्त्व का विचार एक ही बात है।

शेरते प्राणिनो यत्र स शिवः अर्थात् अनन्त भवतापों से उद्विग्न होकर विश्राम के लिए जहाँ प्राणी शयन करे, वही सर्वाधिष्ठान, सर्वाश्रय 'शिव' है।

वस्तुतः जैसे किसान खेत में बीज बोकर अङ्कुरादि रूप का उत्पादक होता है, वही सेचनादि द्वारा पालक और अन्त में फसल पक जाने पर वही काटने वाला होता है, उसी प्रकार एक ही अनन्त-अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान् शिव उत्पादक-पालक और संहारक होते हैं, यह समझना चाहिये।

भगवान् शिव का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप 'अर्धनारीश्वर' का है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि शिव-शक्ति दो तत्त्व या दो पृथक् सत्ता नहीं वरन् एक ही तत्त्व है यह प्रदर्शित करने के लिए तन्त्र में अर्धनारीश्वर की अवधारणा दी गई। इस प्रतीक में आधा-आधा विभाग नहीं समझना चाहिये अपितु एकत्व समझना चाहिये। अर्थात् वह एक तत्त्व पूरा शिव भी है और वही तत्त्व पूरा-का-पूरा शक्ति भी है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी है किन्तु ऐसा नहीं है कि उसके शरीर का एक हिस्सा पिता है और दूसरा आधा हिस्सा पुत्र है। वस्तुतः समग्र शरीर पिता भी है और समग्र ही पुत्र भी है।

द्वितीय उदाहरण बहते हुए पानी की धारा का है। अर्थ की दृष्टि से 'पानी' शब्द का एक अर्थ है तथा 'धारा' शब्द का दूसरा अर्थ। किन्तु यदि पूछा जाय कि पानी कहाँ है तो उत्तर अंगुलिनिर्देश से बहते हुए पानी को दिखाएंगे। यदि पुनः पूछा जाय की 'धारा' कहाँ है तो उत्तर में पुनः उसी बहते हुए पानी को दिखाएंगे। तात्पर्य यह कि अर्थ की दृष्टि से पानी और धारा भिन्न है किन्तु वस्तुनिर्देश की दृष्टि से दोनों एक हैं।

अतः भारतीय ज्ञान-परम्परा के अनुसार परमतत्त्व चैतन्य एक साथ ही ज्ञान- क्रिया रूप या शिव-शक्ति रूप है। आगमशास्त्रानुसार साधक को इसी मूल भावना को ध्यान में रखकर उपासना करनी चाहिये। इति शम्।

पूर्व-कुलपति,
जगद्गुरु रामानन्द राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर।

कामकला : एक तान्त्रिक परिभाषा

डॉ. हर्षदेव माधव

तन्त्र शास्त्र के मतानुसार सृष्टि रचना के मूल में एक अखण्ड परम सत्ता है। यह सत्ता अर्थात् शिव-शक्ति का सामरस्य। यह सामरस्य निर्विकार है। उसका ह्रास या विकास नहीं होता। यह तो अनादि अनन्त-प्रकाशविमर्शात्मक शिव शिवातत्त्व चिदानन्दमय है। तान्त्रिकों के अनुसार त्रिकोण के मध्य में बिन्दु रूप सामरस्य है। शिवशक्ति का सामरस्य ही परम बिन्दु है, यही मणिद्वीप का मणिजड़ित पर्यङ्क है। तान्त्रिक इस सामरस्य से पीठ रचना का आरम्भ करते हैं। तान्त्रिक परिभाषा में यह बिन्दु सूर्य और कामाख्यरवि कहलाता है।[1]

शिवशक्ति के रूप में दो बिन्दु आत्मप्रकाश करते हैं। इसमें एक बिन्दु अग्नि है और दूसरा बिन्दु चन्द्र है। पूर्ण बिन्दु ऊर्ध्व की ओर मध्य भाग में रहता है।

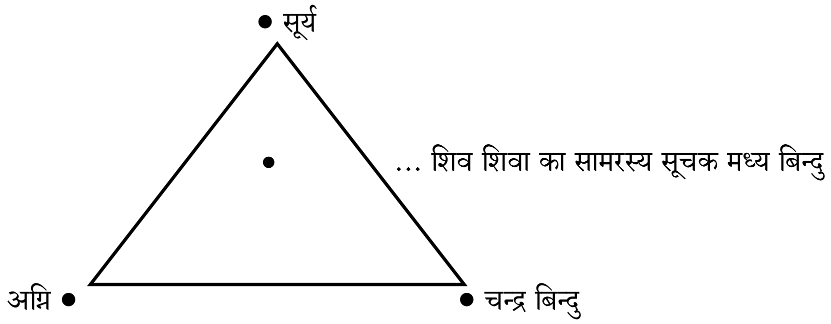

इस तरह त्रिकोण की कल्पना है।

पूर्ण बिन्दु सूर्य रूप में मध्य में ऊपर की ओर रहता है तथा अग्नि और सोम रूप दो बिन्दु स्तनों के रूप में उसके नीचे रहते हैं। इस त्रिबिन्दु में ध्यान किया जाता है।

इस त्रिबिन्दु के नीचे जो एक विचित्र शक्ति हादि कला के नाम से रहती है वह काम कला है। इसके पूर्ण स्वरूप से परम तत्त्व का स्थान भगवद् धाम बनता है।

इस प्रकार विश्व की रचना त्रिस्तरीय है।

1. विश्व का स्थूल रूप है। उसका सूक्ष्मरूप तत्त्वात्मक है और कामकला का सूक्ष्म रूप कला रूप है। यह कला 'चित्कला' के नाम से जानी जाती है।

2. शिव चित्स्वरूप है। शक्ति उसकी कलास्वरूपिणी है। दोनों का जो सामरस्य होता है, वह काम रूप बिन्दु है। इस बिन्दु का बहि:निस्रण हादिकला है जो आत्मप्रकाश करती है।
3. हादिकला अनेक प्रकार से तरङ्गायित होकर तत्त्वों की सृष्टि करती है। सृष्टि की उत्पत्ति में हादिकला रही हुई है।
4. हादिकला की सृष्टि शिवशक्ति रहस्यपूर्ण है और आनन्दमयी भी है।
5. जब तक निष्कल परमशिव की स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक कामबिन्दु का अभाव रहता है। कामबिन्दु के अभाव से हादिकला की आनन्दमय सृष्टि का अनुभव नहीं होता।
6. काम कला के रूप में महाबिन्दु तीन प्रकार से होता है—

   (1) अव्यक्त शब्द और अर्थ के भेद की अवस्था।

   (2) अव्याकृत चेतना, जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं।

   (3) इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञानशक्ति के रूप में ब्रह्म की अभिव्यक्ति।
7. ये तीनों बिन्दु सत्त्व, रजस् और तमस् सूर्य, चन्द्र और अग्नि, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के रूप में पहचाने जाते हैं।

   ईश्वरी इच्छा के इन तीन रूपों को कामकला कहा जाता है।
8. कामकला का अर्थ है—सृष्टि रचने की इच्छा और तत्सम्बन्धी चेष्टा।[2]

   श्रीपुण्यानन्द विरचित *कामकलाविलास* के सातवें श्लोक में कामकला का निरूपण हुआ है—

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकार:।
काम:कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू।।[3]

नटनानन्द की *चिद्वल्ली* टीका के अनुसार सफेद और लाल रङ्ग के दो बिन्दु शुक्र और शोणित रूप दो बिन्दुओं का युगल है, जो शिवशक्तिरूप है। जब विमर्शशक्ति स्वान्तर्गत प्रकाशमय बिन्दु में प्रविष्ट होती है, तब बिन्दु से नादात्मिका समस्त तत्त्वगर्भिणी निकलती है। उस महाबिन्दु में से ही रक्त और शुक्ल दो बिन्दु आकार लेते हैं।

उभयोर्मेलने मिश्ररूपं सर्वतेजोमयं परमात्मस्वरूपं भवति।

चिद्वल्ली टीका की श्रुति अनुसार—

एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्।

परस्पर एक हुए प्रकाश और विमर्श का प्रतीक रवि है। एवं भूतो रविः। सितशोणबिन्दुसमरसीभूतो मिश्रणबिन्दुरित्यर्थः। लोकोऽपि सूर्यस्य मिश्ररूपत्वं अग्निषोमयोः प्रवेशनिर्गमश्रवणादेवं वर्णयति।[4]

उगते हुए सूर्य में अग्नि प्रविष्ट होती है, अस्त होता हुआ सूर्य अग्नि में प्रवेश करता है। चन्द्र और सूर्य के प्रवेश और निर्गमन प्रसिद्ध है। *चिद्वल्ली टीका* में कामकला को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि— अग्निषोमरूपिणी विमर्शशक्तिः। तदुभयभूतकामेश्वराविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दुसमष्टिरूपा कामकलेत्युच्यते। सैवोपास्यतया सर्वागमेषु च उद्घोष्यते।

चिद्वल्ली टीका में तीन बिन्दुओं की स्पष्टता करने वाला एक श्लोक प्रस्तुत किया है (श्लोक के ग्रन्थ का नाम नहीं दिया है)—

अग्रबिन्दुपरिकल्पिताननामन्यबिन्दुरचितस्तनद्वयीम्।
नादबिन्दुरशनागुणास्पदां नौमि ते परशिवे परां कलाम्।।
मिहिरबिन्दुमुखीं तदधोल्लसच्छशिहुताशनबिन्दुयुगस्तनीम्।
हसपरार्धकलारचनास्पदां भजति नित्यमिमां परदेवताम्।।[5]

इस प्रकार स्वान्तर्गत अक्षर राशि महामन्त्रमयी, पूर्णाहन्तामयी प्रकाशानन्दसारा, बिन्दुत्रय, समष्टिभूत दिव्याक्षरमयी कामकला ही महात्रिपुसुन्दरी है। यही परमयोगियों और महामहेश्वरों के लिए चिन्तनीय है।

इस कामकला विद्या का ज्ञाता महात्रिपुरसुन्दरी रूप हो जाता है—*कामकलाविलास, 4*

श्रीचक्र में यह बिन्दु केन्द्र में स्थित त्रिकोण में रहता है।

एवं कामकलात्मा त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूपवर्णमयी।
सेयं त्रिकोणरूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता।।[6]

इस प्रकार त्रिकोण के रूप में माँ त्रिपुरसुन्दरी ही तो है। यह त्रिकोण त्रिगुण के अनुसार आनन्द, इच्छा और क्रिया का साधन स्वरूप है। *ललितासहस्रनाम* में 322वां नाम कामकलारूप है।

भास्करराय *सौभाग्य भास्कर टीका* में लिखते हैं कि— बिन्दुत्रयं हादिर्धकला चेत्यत्र प्रथमो बिन्दुः कामाख्याश्चरमा कला चेति प्रत्याहारन्यायेन कामकलेत्युच्यते।

तीन बिन्दु और हादिकला है, जिसमें प्रथम बिन्दु काम है और अन्तिम बिन्दु कला है। प्रत्याहार सिद्धान्तानुसार कामकला में चारों का समावेश हो जाता है। पराशक्ति में शिवशक्ति का समागम है। बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है और अङ्कुर से बीज उत्पन्न होता है। शिव ज्ञान शक्ति है और शक्ति क्रिया है। इन दोनों ज्ञान और क्रिया द्वारा ही जगत् का निर्माण संभावित होता है। अ कार विमर्श है, ह कार प्रकाश है। इन दोनों के मिलने से बनने वाला 'अहं' पद उनका वाच्य है।

समस्त वर्ण राशि 'अहं' में समाविष्ट है। भास्करराय लिखते हैं कि—

तस्य कामेश्वराख्यस्य कामेश्वर्याश्च पार्वति।
कलाख्या सविलासा च ख्याता कामकलेति।। *(सौभाग्य भास्कर टीका)*

अथवा वह काम और कला दोनों को अभिव्यक्त करता है। वे *कालिकापुराण* का उद्धरण देकर नये ढङ्ग से समझाते हैं—

कामार्थमागता यस्मान्मया सार्धं महागिरौ।
कामाख्या प्रोच्यते देवी नीलकूटरहो गता।। —*(सौभाग्य भास्कर टीका)*

(यह श्लोक कालिकापुराण की प्रति में अप्राप्य है) कामा का अर्थ सुन्दर ही होता है—

कामदा कामिनी काम्या कान्ता कामाङ्गदायिनी।
कामाङ्गनाशिनी यस्मात् कामाख्या तेन कथ्यते।। –*(सौभाग्य भास्कर टीका)*

देवी ने काम को शरीर प्रदान किया और काम के शरीर का विनाश भी किया, इसीलिए वह कामा कहलाती है।[7] इस प्रकार महामाया त्रिपुर सुन्दरी कामा भी है, कला भी है।

सौन्दर्य लहरी में 'कामकला' का जगन्माता के रूप में सुन्दर निरूपण हुआ है—

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्।।[8]

लक्ष्मीधर के अनुसार— बिन्दुस्ताने मुखं ध्यात्वा इत्यर्थः। कुचयुगं स्तनद्वयं अधः अधस्तात् तस्य मुखस्य। तदधः तस्य कुचयुगस्य अधः प्रदेशे हरार्धं हरस्य अर्धशक्तिः त्रिकोणं योनिरिति यावत्।[9]

आगे वे लिखते हैं कि यह मानद प्रयोग है। (अयं मानदप्रयोगः) *सौभाग्यवर्धिनी* टीकानुसार 'त्रिलोक्यमपि कामकलारूपेति भावः।' त्रिलोक्य ही कामरूप है।[10] यहाँ *रुद्रयामल* का अवतरण दिया गया है कि—

नभो महाबिन्दुमुखी चन्द्रसूर्यस्तनद्वया
सुमेरुहारवलया शोभमानमहीपदा।।
पातालतलविन्यासा त्रिलोकीयं तवाम्बिके।
कामराजकलारूपा जागर्ति सचराचरा।।[11]

1. *सौभाग्यवर्धिनी* 'अथ वा' कहकर अन्य ढङ्ग से समझाते हुए कहते हैं कि— हकारः शिवः, तस्यार्थः शिवेति पदं शकारेकारावकाराकाररूपवर्णचतुष्टयात्मकम्। तस्य अर्धे शकारवकारात्मके गते अर्धमिकाराकारात्मकमवशिष्टं भवति। तस्य सन्धौ सत्येकारो योनिरूपो भवति। तमेकारं योनिरूपं कुचस्याधो भावयेत्। — *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक 19 पर *सौभाग्यवर्धिनी* की टीका।

2. हकारो रवि:, तत्र रविपदे रेफवकारूपेऽर्थे गते अकारेकारात्मकर्धमवशिष्टं भवति। तयो: सन्धौ सत्येकारो योनिरूपो भवति। तत्कुचस्याधो भावयेदिति।

3. हकारो हंस:, तत्रार्धे हकारसकाररूपे गते अं अ: इत्यूर्ध्वबिन्दुविसर्जनीयरूपबिन्दुत्रयमवशिष्टं भवति। —*अरुणोमोदिनी* टीका 'क्लीं' को कामबीज मानती हैं।

क्लीमित्यस्य मदनबीजत्वात् मदनबीजत्वात् तत्र च बिन्दोर्नागरलिप्यां शिरस्थत्वात्तत्रस्थे बिन्दौ मुखं कृत्वा, तदध:स्थितबिन्दुद्वयाकारे कुचद्वयं तदधोवर्तिनि लकारे हरार्धं त्रिकोणं ध्यात्वा तेन मन्मथकालं यो ध्यायेत्, क्लीमित्येवं रूपां चिन्तयति स साधकस्तदानीमेव एतत् प्रयोगस्यातिशीघ्रकारित्वात्। — *सौन्दर्यलहरी सौभाग्यवर्धिनी टीका।*

इस प्रकार 'क्लीं' का प्रतीक कामकलारूप है।[12] *आनन्दगिरि टीका* 'ई' कार को कामकला रूप मानते हैं।

मन्मथबीजेन कामराजबीजं क्लीम् इत्याकारं, तस्य कलाम् एकदेशम् ईमिति।[13]

इ कार, ह कार और ई कार सरस्वती के बीज और कामकलारूप हैं।

नित्यक्लिन्ना का मन्त्र— **'ऐं क्लीं ह्सौ: स्क्लीं नित्यक्लिलन्ने मदद्रवे सौ:।'** भी इस श्लोक में निगूढ़ है, जो मानदप्रयोग के लिए है।

पदार्थचन्द्रिका टीकानुसार— मन्मथ: काम: तस्य कलेव रति:, तद्रूपां त्वां ध्यायेद् इत्यर्थ।

इस प्रकार टीकाकार कामकला के रूप में 'रति' को समझते हैं।[14]

गोपालसुन्दरी टीका भी 'क्लीं' के इ का ध्यान करने की ओर निर्देश करती है।

आनन्दलहरी टीका के श्रीक्रम का अवतरण प्रस्तुत है—

कामो बिन्दुरहं देवी तत्रस्था परमेश्वरी।
शिवशक्तिमयं देव तदधस्तात् कुचद्वयम्।।
तदध: सपरार्धं तु चिद्रूपां परमां कलाम्।
गोप्तव्यं तु प्रयत्नेन यदीच्छेदात्मनो हितम्।।

कामकला का ध्यान 'गुह्याद् गुह्यतरं महत्' भी कहा जाता है।[16] सर ज्होन वुड्रोफ (आर्थर अवलोन) के अनुसार—

Bindu (kārya), Nāda, Bīja)—These three points consitute symbolically a Triangle, which is known as the Kāmakalā. Kāma is of course not here used in the gross sense of desire, sexual or otherwise, but of icchā, the divine creative will towards the life form which is here explicated from Bindu, the aspect previously assumed by Śakti through Nāda (Bindutam Abhyeti)

इस प्रकार कामकला ही तान्त्रिकों का पूजनीय प्रतीक (त्रिकोण) है। कामकला ही परमेश्वरी है, इस महाकामेश्वरी को जानने के पश्चात् सर्व को क्षोभित करने वाला साधक स्वयं अक्षोभ्य हो जाता है और परमानन्द प्राप्त करता है।

सन्दर्भ

स्वाध्याय : पृ. 35 अङ्क 3-4, जन्माष्टमी-दीपोत्सवी अंक, अगस्त-नवम्बर, 2001, पृ. 187-192

1. शास्त्री देवदत्त, *तन्त्रसिद्धान्त और साधना,* संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993, पृ. 32-33
2. *तन्त्रसिद्धान्त और साधना,* पृ. 50-51
3. पुण्यानन्दविरचित : *कामकलाविलास : चिद्वल्याख्या व्याख्या सहित,* सं. एम.वी. श्रीनिवासाचार्य, श्रीबालमनोरमा प्रेस, मिलपोर, मद्रास, 1995, पृ. 30
4. *कामकलाविलासः, चिद्वल्ली, पृ. 32-33*
5. वही, पृ. 35
6. वही, पृ. 72
7. सं. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, *ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करटीकोपेतम्,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1984 और *वरिवस्यास्यरहस्यम्,* सं. श्यामकान्त द्विवेदी, चौखम्बा और सुरभारती प्रकाशन, 2002, पृ. 231
8. *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक 19
9. Woriyar A. Kuppu Swami, *सौन्दर्यलहरी, अष्टटीका समेता,* Sri Chandrasekharendra Samajan, Madras, p. 192
10. वही, पृ. 103
11. *सौन्दर्यलहरी, सौभाग्यभास्करटीका,* 2/73, उपलब्ध *रुद्रयामलतंत्र* में यह श्लोक उपलब्ध नहीं है।
12. वही, *अरुणामोदिनी टीका,* पृ. 195
13. *सौन्दर्यलहरी, पदार्थचन्द्रिका* टीका, पृ. 107
14. वही, *आनन्दगिरिटीका,* पृ. 195
15. वही, *आनन्दगिरिटीका,* पृ. 199
16. वही।
17. Sir John Woodroffe, *The Garland of letters*, Ganesh and Company, Madras, 1998, p. 175

8 राजतिलक बंगलो
आबाद नगर के पास बोपल
अहमदाबाद-380058
चलवाणी- 09427624516

ॐकार का महत्त्व : इतिहास और विज्ञान

देवर्षि कलानाथशास्त्री

अनेक शताब्दियों से भारत की धर्मप्राण जनता 'ॐ' का पावन उच्चारण सुनती आ रही है। वेद घोष ॐकार के उच्चारण से ही आरम्भ होता है। तन्त्र के बीज मन्त्रों के साथ, यौगिक क्रियाओं के साथ, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध साधक प्रक्रियाओं में भी ओंकार या प्रणव का उच्चारण परम्पराओं में सम्मिलित हो गया है। 'ओं' ॐ के महामंत्र का लेखन भी प्रत्येक लिखावट के ऊपर करने तथा मंगलकार्यों और धार्मिक कार्यों के अवसर पर विभिन्न स्थानों पर ॐ लिखने की परम्परा भी पूरे देश में किसी-न-किसी रूप में वर्षों से चली आ रही है। प्रणव की इस पावनता की परम्परा के प्रति पूरा देश नतमस्तक रहा है। इस महत्ता का कारण क्या है? ऐसे प्रश्न कुछ वर्षों पूर्व तक शायद न पूछे जाते हैं क्योंकि इस देश में शब्द प्रामाण्य के प्रति सदा से श्रद्धा रही है, परम्परा पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाए जाते थे। किन्तु कुछ वर्षों से बुद्धिजीवी और जिज्ञासु, शास्त्रों के अनुसंधान और धर्माध्येता यह विश्लेषण करने लगे हैं कि विभिन्न परम्पराओं का उत्स क्या है, उनके पीछे बौद्धिक तर्क क्या है आदि।

ॐकार की सर्वोपरि महत्ता के इतिहास का अध्ययन वेदकाल से लेकर आज तक की परम्परा का विश्लेषण करते हुए किया जाए तो कुछ विस्मयजनक और विचारणीय तथ्य भी दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इनका उल्लेख केवल शोधात्मक विचार की दृष्टि से ही किया जा रहा है, परम्परा पर कोई प्रश्नचिह्न लगाने का अथवा प्राचीनता की स्थापना का यहाँ कोई भी उद्देश्य कदापि नहीं है।

वेदकाव्य में

यद्यपि प्राचीन परम्परा वेदों को सृष्टि के साथ ही उद्भूत मानती है, उन्हें अनादि माना जाता है अत: उनके काल का विवेचन करना उचित नहीं माना जाता किन्तु केवल अनुसंधान की दृष्टि से जिन विद्वानों ने वेदों का समय निर्धारित करने का प्रयास किया है वे ऋग्वेद को सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं—अथर्ववेद को अपेक्षाकृत परवर्ती, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का काल उनके बाद का मानते हैं। अवश्य ही निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है कि ऋग्वेद मानव के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऋग्वेद की संहिता में या अन्य संहिताओं में 'प्रणव' शब्द या ओंकार शब्द नहीं पाया जाता। इससे विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि संहिताकाल में वेद घोष के पूर्व ओंकार के उच्चारण की परम्परा नहीं थी, उपनिषद् काल से ही इसका उल्लेख मिलता है।

सामगान के साथ आलाप की तरह 'हा उ उ' आदि का जो उच्चारण आज सामवेदियों द्वारा किया जाता है उसकी परम्परा कब से चली इस पर एकमत नहीं है। किन्तु उपनिषदों में कहीं-कहीं ओंकार को 'उद्गीथ' भी कहा गया है। इससे यह अनुमान होता है कि प्राचीनकाल में भी सामगान के साथ ओंकार का उच्चारण किया जाता होगा क्योंकि सामगान को उद्गीथ कहा जाता है। तभी कुछ विद्वानों की यह स्थापना है कि सामगान के साथ आलाप की तरह ओम् का उच्चारण शुरू हुआ होगा जो बाद में सब तरह के वेदघोष के साथ जुड़ गया।

उपनिषद् काल में ओंकार के सर्वोपरि महत्त्व की उद्घोषणा स्पष्ट है। जब से ब्रह्मविद्या और ज्ञानकाण्ड का महत्त्व वैदिक देवतावाद अथवा कर्मकाण्ड से अलग स्थापित हुआ, परात्पर सत्ता को ब्रह्म कहा गया और 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' का उद्घोष हुआ तो इस बात की खोज भी होने लगी कि ब्रह्म का प्रकाशक अक्षर कौनसा है? इसके फलस्वरूप यह स्थापना हुई कि ब्रह्म का वाचक अक्षर है 'ॐ' प्रणव शब्द भी तभी से प्रयुक्त होने लगा। 'ओमिति ब्रह्म' (*तैत्तिरीय उपनिषद्*) 'तस्य वाचक: प्रणव:' (*पातञ्जल योगसूत्र*) आदि वाक्य सुविदित है।

विश्व की सभी संस्कृतियों में अंधकार से प्रकाश और अज्ञान से ज्ञान की उद्भूति किस प्रकार हुई इस पर विभिन्न अवधारणाएँ मिलती हैं। ज्ञान, वाक्, विद्या आदि ईश्वरीय वरदान माने जाते हैं। ग्रीक संस्कृति में इन्हें 'लोगोस' कहा गया, हमारे यहाँ वाक् आदि शब्दों से अभिहित किया गया। ज्ञान का प्रस्फुटन वाक् के रूप में हुआ, प्रथम वाक् थी 'ओं' जो वाणी का सर्वप्रथम उद्घोष है, ब्रह्म का प्रथम स्फोट है। तभी तो ऐसी मान्यताएँ आ जुड़ी कि ओंकार ब्रह्म का कंठ फाड़कर निकला है। *जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद्* में कहा गया है कि व्याहृतियों, मातृकाओं और अक्षरों का रस प्रजापति ने पी लिया किन्तु एक अक्षर का रस वे नहीं पी सके। वही ओंकार हुआ। वही वाक् है। प्राण उसका रस है। ओंकार में ब्रह्माण्ड की प्राणशक्ति निहित है। 'अथैकस्येवाक्षरस्य रसं नाशक्नोदादातुम्। ओमित्येतस्यैव। सेयं वागभवत्। ओमेव नामैषा। तस्य उ प्राण एव रस:।' (*जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद्*, 1/1/6/7)

इस औपनिषदिक रहस्यवाद में संकेतिक प्रतीकों की व्याख्या विभिन्न प्रकारों से विद्वानों ने की है, जिनमें वेदों के विज्ञानवादी व्याख्याकार भी शामिल है, उपनिषदों की ब्रह्मविद्या के विवेचक विद्वान् भी।

समस्त परमेष्ठिमंडल भूर्लोक, भुवर्लोक और सुवर्लोक में विभाजित है। पृथ्वी भूलोक है, अन्तरिक्ष (अर्थात् मध्य का वायुमण्डल 'स्पेस' या अनन्त आकाश नहीं) भुवर्लोक है, अनन्त आकाश स्वर्लोक है। कहीं-कहीं स्वर्लोक को केवल द्युलोक मानकर अनन्त आकाश को 'महर्लोक' (प्रकाश लोक) भी कहा गया है। यह अधिभौतिक विद्या आर्यों के प्रत्येक धार्मिक कार्यों में उल्लिखित और व्याहृत की जाती थी। इसीलिए इन तीनों को 'व्याहृति' कहा गया। जिस प्रकार बाह्य दृश्य जगत् में ये तीन लोक हैं उसी प्रकार अग्नि वायु, और इन्द्र तीनों के अधिष्ठाता देव हैं। गायत्री मन्त्र के साथ भी ये तीनों व्याहृतियाँ बोली जाती हैं। इनके पूर्व

ॐ का उच्चारण किया जाता है। उपनिषदों की संकल्पना है कि तीनों व्याहृतियाँ ओंकार में समाहित है। वर्ण की दृष्टि से ओम अक्षर में तीन मात्राएँ हैं—अ+उ+म्। ये तीनों इन व्याहृतियों की वाचक है। जैमिनीय ब्राह्माणोपनिषद् कहती है—

तासामभिपीडितानां रस: प्राणेदत्।
तदेतदक्षरमभवदोमिति यदेतत्। (1/23/7)

तीनों व्याहृतियों के संपीडन से प्राणरूपी रस निकला, उससे ओंकार का उद्‌गम हुआ। यह ओंकार समस्त ब्रह्माण्ड का बीजमंत्र हो गया। समस्त सृष्टि प्रपञ्च ब्रह्म का ही आभास है अत: प्रणव ब्रह्म का वाचक हुआ। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा गया है कि पूर्व परात्पर ब्रह्म का प्रतीक आकाश ब्रह्म ही ओंकार है। आकाश सनातन है, वही 'खं ब्रह्म' है। ओंकार ही वेद है। *ईशावास्योपनिषद्* में 'ॐ' क्रतो स्मर कृतं स्मर इत्यादि कहकर ओंकार को सत्-चित् और आनन्द तीनों का प्रतीक बताया गया है। *माण्डूक्योपनिषद्* में ओंकार को भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों को समाहित किये हुए बताया है। वही आत्मा का वाचक है, वही ब्रह्म का। *कठोपनिषद्* में समाज नचिकेता को ब्रह्मविद्या देते हुए व परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों के वाचक के रूप में ओंकार का उपदेश करते हैं—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तते पदं संग्रहणे ब्रवीमि।
।। ओमित्येयेत्।।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

इस प्रकार ओंकार ही एकाक्षर ब्रह्म है, यह उपनिषदों ने प्रतिपादित किया है। *प्रश्नोपनिषद्* में विवेचन है कि ओंकार एकमात्रिक भी है, द्विमात्रिक भी है, त्रिमात्रिक भी है। इसकी पहली मात्रा ऋग्वेद, दूसरी यजुर्वेद, तीसरी सामवेद की प्रतीक है, साथ ही पहली मात्रा भूर्लोक (पृथ्वी), दूसरी भुवर्लोक (चन्द्र) तीसरी स्वर्लोक (सूर्य) की वाचक है।

इस प्रकार उपनिषदों ने पर, अपर और परात्पर ब्रह्म के वाचक के रूप में अक्षर ब्रह्म ओंकार के महत्त्व की प्रतिष्ठा की।

व्युत्पत्ति

इसीके साथ यह मनन भी आरम्भ हुआ कि 'ओम्' की व्युत्पत्ति क्या है? अर्वाचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका भी विवेचन है। कुछ ग्रन्थों में रक्षणार्थ 'अव्' धातु से ओम् की व्युत्पत्ति की गई है, कुछ में प्राप्ति वाचक 'आप्तृ' धातु से। ओ३म् के साथ जो ३ का अंक लिखा जाता है उसका रहस्य भी विविध रूपों में

बताया गया। कहीं-कहीं ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेवों की व्याहृतियों के संकेत के रूप में, कहीं तीन वेदों के। वस्तुतः इसका उच्चारण वेदघोष के साथ अतिदीर्घकाल तक किया जाता है जिसे 'प्लुत' कहते हैं। अतः ३ का अंक यहाँ लिखा जाता है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन उच्चारण काल के क्रम से मात्राकाल बताये गये हैं—दीर्घदीर्घतर उच्चारण प्लुत होता है। ओंकार सर्वदा प्लुत में भी उच्चरित होता है। बीसवर्णाभिधान में इसकी तीन मात्राएँ तथा पाँच रश्मियाँ बताई गई है—

'ॐकारः प्रणवस्ततो वेदादिर्वर्तुलो ध्रुवः।
त्रैगुण्यं त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मन्त्रादिरव्ययः।
ब्रह्मबीजं त्रितत्त्वं च पञ्चरश्मिस्त्रिदैवतः।'

इस प्रकार इसकी तीन मात्राओं में सत्त्व, रज, तम तीनों गुण भी समाहित बताये गये हैं, पुराणों में यह विवेचन भी है कि अकार विष्णु का उकार शिव का तथा मकार ब्रह्मा का प्रतीक है। अतः ओंकार त्रिदेवात्मक हैं। कहीं-कहीं इसे द्विमात्रिक (दो मात्रा वाला), कहीं त्रिमात्रिक और कहीं पंचमात्रिक भी बताया गया है। अ, उ और म् की तीन मात्राएँ तथा प्लुत उच्चारण की दो मात्राएँ यों पाँच मात्राएँ भी कहीं-कहीं वर्णित हैं।

गीता में

उपनिषदों की सारभूता, प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) की तीसरी प्रस्थान स्वरूपा श्रीमद्भगवद् गीता में ओंकार का यही ब्रह्मविद्यागत महत्त्व स्पष्ट दिया गया है-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।

जो ओंकार का उच्चारण करता हुआ तथा मुझे स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है वह परमगति को प्राप्त होता है। सत्रहवें अध्याय में ब्रह्म का सूत्र (फार्मूला) बताते हुए गीता कहती है—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्। (23-24)

इसमें यह संकेत है कि ब्रह्म का तीन प्रकार से अभिधान किया गया है—ओम् (अक्षर ब्रह्म), तत् (पर ब्रह्म), सत् (अपर ब्रह्म) इसका वास्तविक रहस्य यही प्रतीत होता है कि 'ओं तत्सत्' यह ब्रह्म का सूत्र (फार्मूला) है जिसमें यह स्थापना है कि ब्रह्म ही (ओम्) तत् (सर्वोपरि नियामक) है और ब्रह्म ही सत् (चरम सत्य के रूप में समस्त दृश्यसत्ता में व्याप्त) है। वहीं अपर पर और परात्पर है। भारतीय ब्रह्मविद्या की विशेषता

ही यह है कि यहाँ उस परम सत्ता को न केवल सबसे ऊपर और परे (Immanent| बताया गया है बल्कि साथ ही सबमें और हममें व्याप्त भी (Immanent) बताया गया है। ओम् की तीन मात्राओं में यही रहस्य निहित है।

इसी श्लोक में स्पष्ट किया है कि ओंकार इस प्रकार ब्रह्मविद्या का प्रतीक है अत: 'ओं तत्सत्' का उच्चारण करके ही ब्रह्मवादी लोग यज्ञ, दान और तप करते हैं। यद्यपि इसके आगे के श्लोकों में सद्भाव के अर्थ में सत् की व्याख्या की गई है और ॐ तत् और सत् तीनों को ब्रह्म के तीन नाम बताये हैं। ऐसा अर्थ इस श्लोक का किया गया है तथापि इसका चरम तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि 'ओं तत् सत्' वह ब्रह्म का बोधक वाक्य है क्योंकि इसमें *तैत्तिरीय उपनिषद्* के 'ॐ इति ब्रह्म' वाक्य से ॐ और छान्दोग्य के 'तत्त्वमसि' महावाक्य से 'तत्' और 'सदेव सौम्येदम्' से सत् लिया गया है और इस प्रकार यह फार्मूला या कोड के रूप में ब्रह्म की परिभाषा की दृष्टि से अभिहित है। इस प्रकार ओंकार उपनिषदों के ब्रह्मवाद के महत्त्वपूर्ण प्रतीकाक्षर के रूप में गीता के समय तक स्थापित हो चुका था।

योग में

श्रीमद्भगवद्गीता को 'ब्रह्मविद्या' और 'योगशास्त्र' दोनों कहा गया है। इसमें 'योग' के वे रहस्य वर्णित है, जिनका भारतीय प्राच्यविद्या की परम्परा में बहुमूल्य योगदान है। इसमें जब ओंकार का महत्त्व स्थापित हुआ तो स्वाभाविक था कि योगक्रियाओं में ओंकार के नाद को अविभाज्य अंग बना दिया जाता। ओंकार का नाद नाभि से उत्थित होता है और इस प्रकार नाभि में स्थिति मणिपूर चक्र से उठकर हृदय स्थित अनाहत चक्र को झंकृत करता हुआ कण्ठ के विशुद्धि चक्र से स्फुट होता है। ज्यों-ज्यों इसका स्वर ऊपर उठता है त्यों-त्यों भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र में पहुँचकर यह सहस्रार चक्र तक पहुँच जाता है। *पातञ्जल योग सूत्र* में बताया गया है कि प्रणव मुख्य मंत्र है। उसके अर्थ और रहस्य को जानकर उसको जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

तंत्र में

सम्मोहन तंत्र में मंत्रयोग का विवेचन करते हुए ओंकार को तत्त्वबीज तो बताया ही गया है, उसका स्थान आज्ञाचक्र में वर्णित किया गया है। अव्यक्त ओंकार का स्थान सहस्रार चक्र है। कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त होने पर वेग उत्पन्न होता है, उससे स्फोट, उससे नाद। प्रथम स्फोट जीवसृष्टि का महानाद है, वहीं ओंकार है। उससे 52 मातृकाएँ उत्पन्न होती हैं। पचास मातृकाएँ अक्षरमय हैं, इक्यावन प्रकाशरूप है, बावनवीं प्रकाश का प्रवाह है। अव्यक्त प्रणव सहस्रार से आज्ञाचक्र में आकर व्यक्त होता है। इसकी उपासना को नादबिन्दूपासना भी कहा गया है।

इस दृष्टि से ओंकार साधना का सर्वोत्तम प्रकार है। अधिकाधिक मन्द ध्वनि से किन्तु अधिकाधिक तीव्र स्फोट या वॉल्यूम या ध्वनि के साथ उच्चारण की साधना। पिच (Pitch) या फ्रीक्वैन्सी (Frequency) जितनी नीची या गंभीर (Low) होगी, साथ ही नाद या वॉल्यूम (Volume) जितना तीव्र होगा, नाडी संस्थान पर नादसाधना का उतना ही प्रभाव परिलक्षित होगा। पाश्चात्य ध्वनिविज्ञान के अनुसार ही इसी प्रकार

का नाद या विस्फोट सर्वाधिक शक्तिशाली होता है। इस प्रकार के विस्फोट से ही उन्होंने साउण्ड बम (Sound Bomb) के निर्माण की संकल्पना भी की है जो अपनी मन्दध्वनि के कारण कर्णकुहर फोड़ सकता है।

वेदोच्चारण के समय प्रारम्भ में मन्द-ध्वनि में प्रणवोच्चारण (जो सामान्यत: ऋचाओं में किया जाता है) फिर मध्य स्वर में (जो यजुओं से होता है) और फिर तार स्वर में (साम) करने की प्राचीन परम्परा है। इसी क्रम से पहले अतिमंद्र, फिर मंद्र फिर मध्य, फिर तार और अतितार स्वर में ओंकार की नादसाधना विशेष फलदायक सिद्ध हो सकती है।

ओंकार का एक नाम 'वर्तुल' और दूसरा 'बिन्दुशीर्ष' है। तांत्रिक परम्परा में गोल आकार में उ लिखकर उस पर शुण्डा और उसके ऊपर बिन्दु लगाने का रहस्य सम्भवत: यही है कि बिन्दु अव्यक्त प्रणव का प्रतीक है जो सबसे ऊपर सहस्रार में स्थित होता है। तंत्रों में इसकी सात कलाएँ बताई गई हैं, परा, परात्परा, तदतीता, चित्परा, तत्परा, रसातीता और सर्वातीता। शिव ने जब मानस आत्मरमण किया तो बिन्दु की उत्पत्ति हुई, वह प्रणव रूप में परिणत हुई जिससे समस्त मातृकाएँ प्रकटीं। ओंकार की बिन्दुरूप अर्धमात्रा को दुर्गासप्तशती में भगवती का रूप बताया गया है, **'अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषत:।'**

पुराणों में

पुराणों में ओंकार का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। मार्कण्डेय पुराण में ओंकारोपासना का महत्त्व बतलाते हुए ओंकार की तीन मात्राओं का माहात्म्य वर्णित है। इसकी तीन मात्राओं को तीन देवों, तीन लोकों, तीन अग्नियों का प्रतीक बतलाकर योगी के लिए इसकी साधना आवश्यक बताई गई है। तीर्थों में तथा देव मन्दिरों में अनेक देवमूर्तियों को ओंकार स्वरूप बताया गया। मन्दिरों में ओंकार का अंकन किया जाने लगा। भगवान् शिव के अनेक मन्दिर ओंकारेश्वर नाम से जाने जाते हैं जिनमें इन्दौर के पास नर्मदा तट का मन्दिर प्रसिद्ध है। शिव, गणेश, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं को ओंकार के अक्षर में प्रतिष्ठित चित्रित कर उनकी उपासना करने की परम्परा स्थापित हुई।

अन्य सम्प्रदायों में

योग के साथ ओम् के महत्त्व की स्थापना के कारण साधकों में नादबिन्दूपासना और ओंकारेश्वर की जो परम्परा प्रचलित थी, उसी को बौद्ध वज्रयानियों ने भी अपनाया। कुंडलिनी योग की पद्धति में भी ओंकार का नाद महत्त्वपूर्ण माना गया था। 'कुल-कुंडलिनी' पद से ओंकार का ही अभिधान किया गया था। इन्हीं साधना पद्धतियों का प्रचार अन्य देशों में भी हुआ और ओंकार की प्रतिष्ठा वहाँ भी हुई। आज भी तिब्बत में लामाओं के महामंत्र 'ओं मणिपद्मे हुं' में ओंकार सर्वप्रथम आता है। जैन और बौद्ध उपासना पद्धतियों में भी ओंकार का समान तथा प्रमुख मातृका के रूप में उसका उल्लेख पाया जाता है।

भक्ति सम्प्रदायों के लोकप्रिय होने के बाद कुछ भक्तिमार्गियों की यह धारणा पनपी कि ओंकार ब्रह्मवाद का प्रतीक है तथा निर्गुण, निरुपाधिक ब्रह्म का वाचक है अत: सगुण साकार भक्ति के लिए उसके स्थान पर कोई अन्य प्रतीकाक्षर स्थापित करना उचित होगा। इसी क्रम में 'श्री' या 'श्री:' लिखे जाने की परम्परा शुरू की गई। पत्रों के ऊपर लिखावट के प्रारम्भ में जहाँ पहले ॐ लिखा जाता था वहाँ श्री लिखा जाने लगा। 'श्रीहरि:' जैसे प्रयोग और नामों के पहले श्री लगाने की परम्परा इसी प्रकार प्रचलित हुई तथापि ओंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ। आज भी अनेक स्थान पर वेदोच्चारण के पूर्व या अन्य मांगलिक कार्यों में 'हरि: ओम्' का जो उच्चारण किया जाता है वह इसी ब्रह्मविद्या और भक्तिसिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव का निर्देशन है।

कुछ विद्वानों का तो यह मानना है कि भारत के बाहर के धर्मों में भी ओंकार की परम्परा विद्यमान है। अरब देश में प्रचलित धर्मों, मुस्लिम धर्म आदि में 'आमीन' (AMEN) कहने की परम्परा के मूल में भी 'ओम्' ही बताया जाता है। भाषाशास्त्र में 'ओम्' स्वीकार का वाचक है। आमीन भी स्वीकार का वाचक शब्द है (तथास्तु या ऐसा ही हो, यह इसका शाब्दिक अर्थ है।) लैटिन भाषा में 'सर्वव्यापक' और 'सर्व' का वाचक शब्द 'ओम्निस' (Omnis) जिस पर आधारित अनेक शब्द अंग्रेजी में भी प्रचलित है (जैसे Omnipresant अर्थात् सर्वव्यापक, Omniscient अर्थात् सर्वज्ञ आदि) ओम् से ही नि:सृत है ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन

इस प्रकार ओंकार की प्रतिष्ठा और उपासना भारत में अति प्राचीनकाल से ही अलौकिक शक्ति और सिद्धि प्रदान करने वाली मानी गई है। आधुनिक विद्वानों ने भी मानव शरीर पर ओंकारोच्चारण के भौतिक प्रभावों की विवेचना करते हुए बतलाया है कि ध्वनिविज्ञान के अनुसार विवृत स्वर 'आ' तथा प्लुत उच्चारण के साथ विभिन्न स्वराघातों के साथ उच्चारित 'ओ' की ध्वनि कण्ठनलिका (Vocal Cords) को पूर्णत: खोलकर नाडीतंत्र को झंकृत कर देती है। इसीके साथ संतत अनुनासिक या अनुस्वरित उच्चारण नासा मूल से लेकर प्रमस्तिष्क तक की तंत्रिकाओं में स्पन्दन पैदा कर सकता है—इसलिये ओम् का दीर्घकाल तक विभिन्न ध्वनिग्रामों तथा तारत्व (Pitch) के साथ उच्चारण कण्ठनलिका और शीर्षस्थ नाडीतंत्र पर विशिष्ट प्रभाव डालता है। संगीतकारों के द्वारा 'नोम्-तोम्' का आलाप इसी पद्धति का प्रतीक है।

एक विद्वान् ने ओम् की रोमन् लिपि में अक्षरीकरण करके A+V+M इन तीन वर्णों को पदार्थ (Matter), ऊर्जा (Energy) तथा प्रज्ञा या चेतना (Intellect या Conseiousness) का प्रतीक बतलाकर सृष्टि विद्या के मूल में इन तीनों तत्त्वों, देवों, कालों, लोकों आदि के प्रतीक के रूप में भारतीय विद्या की उस प्राचीनतम परम्परा को समाहित किये हुए हैं जिनका विवेचन अनुशीलन और अनुसरण आज भी अनेक विशिष्ट सत्फल प्रदान कर सकता है।

सी-8, पृथ्वीराज रोड, सी-स्कीम, जयपुर।

तान्त्रिक दृष्टि में नाद और नवनाद

प्रो. बीना अग्रवाल

नाद से ही समग्र विश्व की सृष्टि होती है और सृष्ट विश्व के अन्तर में नाद ही प्राण या जीवनीशक्ति के रूप में निहित रहता है। प्रपञ्च स्थित वाच्य अर्थों की महासमष्टिरूप से एकीभूत स्थिति का नाम नाद है। इसमें निखिल विश्व का, अनन्त वाचकों और अनन्त मन्त्रों का साक्षात्कार होता है। इसीलिए कोई भी मन्त्र चेतन होने पर नाद की ही अवस्था में उपनीत हो जाता है। यह (नाद) बिन्दु की परवर्ती अवस्था है। बिन्दु का साक्षात्कार भ्रूमध्य से किञ्चित् ऊर्ध्वदेश में होता है। इस बिन्दुरूप ज्योति में समग्र विश्व अभिन्न रूप से भासमान है।

योगियों की नौ योगभूमियों में बिन्दु प्रथम है। ये नौ भूमियाँ नवनाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थूल रूप में नाद के नौ विभागों की भाँति सूक्ष्म रूप में भी नौ विभाग कल्पित होते हैं।

वर्णों में विद्यमान ध्वनि नाद का ही स्थूल रूप है। नाद सर्वप्रथम परा के रूप में मूलाधार से उठता है; पुन: मणिपूर और अनाहत चक्रों में आकर प्राण और मन से संयुक्त होकर, पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में परिणत हो जाता है, इसके पश्चात् वह वैखरी-रूप होकर वर्णात्मकता को धारण करता है। समस्तवर्णों के कारणभूत उस नाद में सम्पूर्ण वर्णराशि सूक्ष्मरूप में उसी प्रकार विद्यमान रहती है जैसे बीज में सम्पूर्ण वृक्ष। सृष्टि क्रम में परा से वैखरीवाक् का उदय होता है, किन्तु साधना क्रम में वैखरी से शब्दगति मध्यमा और पश्यन्ती भूमिका को पार करते हुए परावाक् की ओर होती है। इस क्रम में नादात्मक वर्ण अनाहत नाद के रूप में निरन्तर प्राणिमात्र के हृदय में ध्वनित होता रहता है[१]—

एको नादात्मको वर्ण: सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वात् अनाहत इवोदित:।।

यह अविभक्त नाद ही ब्रह्म-प्रणव-संलग्न नाद अथवा ज्योति है। मन का इस स्थल में लय होने पर परम-पद का साक्षात्कार सम्भव होता है। यह ज्योति ही चिदात्मिका शक्ति है, यही 'परावाक्' कहलाती है। 'पूर्ण-अहन्ता' इसका स्वरूप है। यह मात्रातीत चिन्मय असीम नाद-प्रवाह विश्वकल्याण के लिए भ्रूमध्य में

---

[१] नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देव: प्राणीनामुरसि स्थित:।। — उ. तन्त्रालोकविवेक। V 181.

अवतरित होता है। जिस प्रकार गङ्गा विष्णु के चरणों से शिव के मस्तक पर अवतरित हुई थी, उसी प्रकार यह नाद गङ्गा विश्व की सृष्टि और जीव के कल्याण के लिए अवतीर्ण हुई है।

भ्रूमध्यस्थान ही चित्त का केन्द्र बिन्दु है : इस स्थान से प्रकृति 'ह', 'क्ष' और उन में 'ळं' बीज की रक्षा करके नीचे उतरती है। इसके पश्चात् चित्सूत्र का अवलम्बन करके क्रमश: तीन मण्डल (वर्णसहित) रचित होते हैं[१]—

इच्छा — सोममण्डल – षोडश स्वरवर्णमय – कारण देह

मन — सूर्यमण्डल – कादिमान्त 25 व्यञ्जन – सूक्ष्मदेह

प्राण — अग्निमण्डल – यकारादि व्यञ्जन – स्थूल देह।[२]

इस प्रकार नाद से ही प्रपञ्चात्मक एवं वर्णमय विश्व की सृष्टि हुई है। अनन्त विश्व को गर्भ में धारण किए यही प्रसुप्त भुजङ्ग के आकार में रहता है, जिसे आगमों में अनच्क 'ह'कार या परमबीज कहा गया है। इस अवस्था में नाद-भाव अभिभूत और प्राणात्मक भाव उन्मुक्त रहता है।[३] जब यह विश्व को गर्भ में धारण किए रहता है, तब इसका नाम होता है 'पराकुण्डली'; और जब नादरूप तिरोहित हो जाता है तब गहन सुषुप्ति की अवस्था में यह प्राण कहलाता है।

यही प्राण 'हंस' है, जो स्वभावत: अध: संचरण करता है। हान (त्याग) और समादान ग्रहण करने वाला है। नादात्मक 'हंस' का नित्य उच्चार है अनच्क 'ह' का अभिव्यञ्जक 'अ'कार।[४] यह नाद के शिरोरूप में कल्पित है। इससे जुड़ने पर 'उ'कार अध:-ऊर्ध्व संचारक होने के नाते चरणरूप में कल्पित होता है। 'उ'कार का योग होने से बिन्दु आदि प्रमेय के प्रकट होने का सूत्रपात होता है। यह अनुस्वार या 'म'कार में ही होता है। इस प्रकार अ-उ-म् या प्रणव में सम्पूर्ण जीव जगत् विद्यमान रहता है।

---

[१] (अ) उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभाग: प्रकाशो य: स विन्दु: परमो हि न:।। — *तन्त्रालोक* III, 111
(ब) अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति।।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मत:। — वही, 113-4

[२] द्रष्टव्य — तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक।

[३] योऽसौ नादात्मक: शब्द सर्वप्राणिष्ववस्थित:।।
अधऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणावतिष्ठते। — *तन्त्रालोक* III, 111 (सद)-114 (अब)

[४] अकार: सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थित:। — वही, विवेक III 114 में उद्धृत।

प्रणव की सुप्रसिद्ध, अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद इन पाँच कलाओं पञ्च प्रणव कहा गया है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इनके देवता है। उच्चारण की दृष्टि से इन्हें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म बताया गया है। प्रणव सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण है।[१] इसी में जीवन प्रतिष्ठित है।[२]

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना—अपनी इन बारह कलाओं के माध्यम से ओंकार पृथिवी से शिवपर्यन्त समस्त तत्त्वों और भुवनों को आकलित करता है और 'ओम् इत्येतदक्षरमिदं सर्वं' इस उपनिषद् वाक्य को सार्थक करता है। आगम और निगम दोनों ही ॐ की जगत्-व्यापकता के विषय में एकमत है। प्रणव अथवा बीजमन्त्र के प्रथम तीन अवयव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं; इसके बाद के नौ अवयव जिन्हें नवनाद कहा गया है, तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्था के अन्तर्गत है। अन्तिम दो अवस्थाओं में अमात्र शिवस्वरूप से चित्कला का आभास होता है। इस आभास को धारण करने पर मात्रा-साधक की योगानुभूति की भूमि परिणत होती जाती है। एकमात्रा विभक्त होकर अर्धमात्रा में परिणत होती है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसे एकमात्रा कहा जाता है। बिन्दु से प्रारम्भ कर उन्मना तक मात्रा के स्तर पर सूक्ष्मता बढ़ती जाती है और सीमाहीन अनन्त की ओर गति होती है। एक मात्रा विभक्त होकर अर्धमात्रा में परिणमित होती है। अर्धमात्रा में प्रतिफलित चैतन्य ही मन्त्र है, उस मन्त्र का आधार बनने वाला चित्त भी मन्त्र है, इसीलिए शिवसूत्रों में चित्त को ही मन्त्र बताया गया है—'चित्तं मन्त्रः।' (2.1)

उपर्युक्त बारह कलाओं में से 'अ', 'उ', 'म्' को छोड़कर बिन्दु से उन्मना तक की समष्टि नाद कहलाती है—

बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते।[३]

ये नौ भूमियाँ अथवा नवनाद का क्रमिक विकास निरोध के क्रम विकास को सूचित करता है; जिसकी चरम अवस्था चित्तवृत्तिशून्य होती है।[४]

---

[१] प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं सम्प्रतिष्ठितम्।
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कल्यच्छिवम्।। — *नेत्र तन्त्र*, 12

[२] महर्षि पतञ्जलि के अनुसार भी ईश्वर के वाचक प्रणव के जप के साथ ही उसकी भावना भी अनिवार्य है। 'तस्य वाचकः प्रणवः।' तज्जपस्तदर्थभावनम्। —*योगसूत्र*, I 27-28

[३] वरिवस्यारहस्य, 1.13

[४] अकारश्च उकारश्च मकारश्च तृतीयकः। वर्णत्रयमिदं प्रोक्तं ब्रह्माद्या देवतास्त्रयः।।
बिन्दुनादसमायोगादीश्वरश्च सदाशिवः। एते वै प्रणवाः पञ्च हंसप्राणयुतः सदा।।
ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम्। प्रणवं पञ्चधा ज्ञात्वा भित्त्वा मोक्षो न संशयः।।
— *स्वच्छन्द तन्त्र*, VI, 23-25

यह अवस्था योग और हठयोग दोनों के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। इन नौ भूमियों अथवा नवनाद का विवरण इस प्रकार है[१]—

1. **बिन्दु**—भ्रूमध्य में ललाट की ओर कुछ ऊपर बिन्दु का स्थान है। सृष्टि की ओर उन्मुख अवस्था ही बिन्दु है; साथ ही अनन्त में प्रवेश का द्वारा भी बिन्दु है। इस भूमि में विशुद्ध चिदनुभूति नहीं होती; किन्तु ज्योतिर्मय ज्ञानरूप ईश्वर-बोध की सूचना होती है। यह समाधिजनित त्रिपुटी से ऊपर की अवस्था है; इस अवस्था में विराट् से अभेदज्ञान का उदय होने पर भेद-बोध की क्रमश: निवृत्ति होती है। इस स्तर में बीज नहीं रहता अर्थात् प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता; इस लिए इसे पुरुष का अभिन्न स्वरूप भी कहा जा सकता है—

अजप्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मत:।। — *तन्त्रालोक*, III, 133

बिन्दु समस्त सृष्टि चक्र का मूल है।

अपार-संसार के भावी स्थूल आकार-प्रकारों को अपने सूक्ष्मरूप में समेटने वाला बिन्दु अवाङ्मनस-गोचर है। इससे परे शब्दातीत, अनिर्देश्य, अग्राह्य परतत्त्व महाबिन्दु है; जिसे नेति नेति के माध्यम से समझाया जाता है। इस बिन्दु से अव्यक्तात्मक रव हुआ, जिसे शब्द ब्रह्म कहा जाता है। आचार्य पद्मपाद के अनुसार यह बिन्दु परमपुरुषरूप है—**"बिन्दुरीश्वर: नादस्तस्याश्चिन्मिश्रं रूपं पुरुषाख्यम्। बीजमचिदंश:।"**— (*प्रपञ्चसार विवरण* I)

2. **अर्धचन्द्र**—इस द्वितीय भूमि की मात्रा 1/4 है। बिन्दु की पूर्ण चन्द्र के रूप में कल्पना करके, उसके आधे अंश के रूप में अर्धचन्द्र माना गया है। यह बिन्दु के ऊपर अवस्थित है। इसके चारों ओर चार-चार और बीच में एक कुल पाँच कलाएँ हैं; लेकिन यह शून्य नहीं है। इसमें बिन्दु का ज्ञान-प्रधान भाव कट जाता है।

3. **निरोधिका**—इसका अपर नाम बोधिनी है। 1/8 मात्रा वाली इस तृतीय भूमि का लंघन और भी कठिन है। सम्पूर्ण विश्व के शासन का भार ब्रह्मा आदि जिन पाँच कारणों पर निर्भर है उनकी भी ऊर्ध्वगति इस निरोधिका भूमि में रुद्ध हो जाती है; क्योंकि इस भूमि का भेद करने के बाद विश्व-शासन का कार्य सम्भव नहीं है। केवल योगी ही इसे भेद कर नाद-पथ में प्रवेश कर सकता है। यह बिन्दु के आवरण का अन्तिम छोर है।

4. **नाद**—इस भूमि की मात्रा 1/16 है। इस स्थान पर असंख्य मन्त्रमहेश्वर विराजते हैं। नाद का स्थान ब्रह्मरन्ध्र के मुँह में है। विशुद्ध त्रिगुणातीत और चिदाभासयुक्त शब्द यहीं अनुभूत होता है। इसे ही चित् की धारा का उद्गम माना जा सकता है।

---

[१] *योगिनीहृदयम्*, 27-36

5. **नादान्त**—इसकी मात्रा 1/32 है। यह तृतीय शून्य है। कुछ आचार्य नाद और नादान्त को ईश्वर पद के रूप में मानते हैं। इस भूमि में गुणीभूत वेद्य का भेद ही प्रधान है। इसमें समस्त वाचक शब्द अभिन्न रूप से विमर्शन का विषय बनते हैं। इसके बाद अनाहत ध्वनि या 'हंस' ललाट में ध्वनित होता रहता है। नादान्त नाड़ी के आधार और ब्रह्मविल में लीन है, यह मोक्ष का द्वार रुद्ध किए हुए है। यह अध: शक्ति के द्वारा सकल जगत् को भेद कर ऊर्ध्व शक्ति में समाप्त होता है।

6. **शक्ति**—छठी चिद्भूमि शक्ति का स्थान ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है। इसकी मात्रा 1/64 है। अनुन्मिषित विश्व इसी शक्ति के गर्भ में निहित है। यह चार कलाओं से घिरी है, इसके केन्द्र की कला का नाम व्यापिनी है। शक्ति में ही आनन्द की सत्ता का अनुभव होता है। इसके बाद ब्रह्म की शक्ति के आनन्द का आभास है। शक्ति से उन्मनी तक प्रत्येक भूमि ही दीप्त द्वादश सूर्य की भाँति उज्ज्वल है। शक्ति शून्यात्मक नहीं है। पृथ्वी तक सभी तत्त्व और भुवन वास्तव में शक्ति के ही प्रपञ्च हैं।

7. **व्यापिनी**—शक्ति के बाद की यह सूक्ष्म भूमि चतुर्थ शून्य रूप है। इसकी मात्रा 1/128 है। व्यापिनी में अनाश्रित भुवन हैं, यह योगियों की पुरी है। इसके अनाश्रित भुवन के चारों ओर चार अनुरूप शक्तियाँ और बीच में अनाश्रित शक्ति है। शिवरूपी अनाश्रित देव के उत्संग में अनाश्रिता शक्ति विद्यमान है।

8. **समना**—यह परा शक्ति व्यापिनी पद स्थित अनाश्रित भुवन के भी ऊपर है। इसकी मात्रा 1/256 है। यह समस्त कारणों की कर्तृभूता और सभी अण्डों की आधारभूता है। इसी शक्ति पर आरूढ होकर शिव समग्र विश्व की सृष्टि, रक्षा, संहार, निग्रह और अनुग्रह—ये पञ्च कार्य करते हैं।

9. **उन्मना**—कुछ आचार्य इसका उच्चारण काल 1/512 मानते हैं और कुछ के अनुसार यह कालातीत है।[१] यह मन से भी परे है। यहाँ नादरूपी शब्द ब्रह्म भी पर्यवसित हो जाता है। यही पञ्चम शून्य और नवनाद की अन्तिम भूमि है। समना से उन्मना की भूमि केवल स्वसंवेद्य है। जिस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्तिरूप में नहीं रहता; किन्तु सर्वथा लुप्त भी नहीं होता; उसी प्रकार मन समना में सूक्ष्म रूप में और उन्मना में संस्कार रूप में अवस्थित रहता है।

नवनाद में बताई गई काल की सूक्ष्म की ओर गतिशील मात्रा के विषय में यह कहा जा सकता है कि मन्त्र या नाम चैतन्य-सम्पन्न होने से क्रमश: सूक्ष्मता प्राप्त करता है और उस समय काल की मात्रा भी क्रमश: कम होती जाती है। तब ही पूर्ण संवित् का साक्षात्कार सम्भव होता है—

---

१. अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्रो निरोधो च नादो नादान्त एव च।।
कौण्डिली व्यापिनी शक्ति: समनेकादशी स्मृत्य।
उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम्। — *स्वच्छन्द तन्त्र*, IV 225-26

उच्छलन्त्यपि संवित्तिः कालक्रमविवर्जनात्।
उदितैव सती पूर्णा मातृमेयादिरूपिणी।। —*तन्त्रालोक, III, 128-29*

मन की सामान्यगति कैमरे के साधारण लैन्स की भाँति तीव्रगतिशील पदार्थों को तथावत् ग्रहण नहीं कर सकती। सद्गुरु शिष्य को तीव्रगति वाला शक्तिशाली बीजमन्त्र देते हैं, जिसकी सहायता से शिष्य जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के आवर्त को भेद पाता है। गुरु द्वारा दीक्षापूर्वक मन्त्र प्रदान किए जाने पर साधक (शिष्य) माया राज्य को पार कर महामाया के प्रदेश में सरल गति से प्रवेश करता है। बिन्दु राज्य में गति का वेग यदि अर्धमात्रा का है तो नवनाद की प्रत्येक भूमि पर उसका आधा-आधा भाग होता चला जाता है। समना पर 1/256 और उन्मना पर 1/512 कालमात्रा का आधार यही है। काल की इस अतिसूक्ष्म मात्रा के विषय में शंका करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि आधुनिक आणविक घड़ियाँ एक सैकण्ड के अरबवें हिस्से को बताने में भी सक्षम हैं। इसी प्रकार अतिसूक्ष्म कालमान में शक्तिशाली लैन्स वाले कैमरे की अतितीव्र शटर स्पीड (सैकण्ड के दस हजारवें भाग तक) के द्वारा तीव्र गतिशील वस्तुओं की यथावत् प्रतिकृति सम्भव है। विज्ञान और तकनीक के इस विकास ने योग एवं तन्त्र की काल की अतिसूक्ष्मता की धारणा की यथार्थता को प्रमाणित किया है। यह भी काल के साथ सम्बन्ध जितना कम होता जाता है, उतना ही जड़ के साथ सम्बन्ध घटता जाता है, तात्पर्य यह है कि काल की सूक्ष्मता होने पर चित्प्रकाश की उज्ज्वलता बढ़ती है। सम्भव है वैज्ञानिक विकास के माध्यम से भी भविष्य में चैतन्य का साक्षात्कार सम्भव हो।

ग्रन्थसूची

1. *तन्त्रालोकः* III, VII आह्निक।
2. *स्वच्छन्दतन्त्रम्* - IV, VI पटल।
3. *योगिनीहृदयम्।*
4. *नेत्रतन्त्रम्।*
5. *तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त* — म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज।
6. *भारतीय संस्कृति और साधना* — म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक : बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

पाञ्चरात्रागम के परिप्रेक्ष्य में जयाख्यसंहितोक्त मन्त्रविमर्श

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

पाञ्चरात्रागम साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। प्राय: तीन सौ संहिताओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] विपुल पाञ्चरात्रागम-साहित्य में तीन संहितायें सर्वातिशय महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक हैं। वस्तुत: पाञ्चरात्रशास्त्र के आदि प्रणेता साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं।[2] भगवान् के मुख से नि:सृत होने वाली संहिताओं में प्रथमत: *जयाख्य संहिता, पौष्कर संहिता* तथा *सात्वत संहिता* है, जिनका प्रमाण स्वयं जयाख्य संहिता में ही निर्दिष्ट है।[3]

भारतीय विचारधारा का सशक्त तथा सार्थक तत्त्व 'मन्त्र तत्त्व' है। प्राय: सभी धर्मों में मन्त्र-शक्ति की महत्ता स्वीकार की गयी है। ग्रीक, इटली तथा मिस्र आदि देशों में मन्त्र विद्या के प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'नेशन्स ऑफ वर्ल्ड' में अफ्रीका की आदिम जातियों के मध्य भी मन्त्रों के प्रयोग का विवरण मिलता है। भारतीय जीवन पद्धति में मन्त्र-शक्ति का साम्राज्य सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। निगमागम परम्पराओं में मन्त्र-मातृकाओं का प्रभाव सुस्पष्ट है। तन्त्रविधान में तो मन्त्र ही मुख्यमन्त्री होता है। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में भी मन्त्रस्वरूप का विशद् विवेचन मिलता है। *जयाख्य संहिता* में मन्त्र-शब्दार्थ, स्वरूप, उत्पत्ति, उनके प्रतीकात्मक संकेतों, शक्ति तथा सामर्थ्य का विवरण वर्णित है। आनन्दमय परब्रह्म वासुदेव की मन्त्रमूर्त्यात्मना उपासना ही नि:श्रेयसाप्ति और अभ्युदयाप्ति के लिए उपादेय है।

जयाख्यसंहिता में मन्त्र की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि जिसके मनन अर्थात् ध्यान करने से जो रक्षा करते हैं तथा अपने दिव्य शक्तियुक्त सामर्थ्य प्रदान करते हैं, वे मन्त्र कहलाते हैं।[4] मन्त्र भगवान् (विष्णु) के अव्यक्त (Formless) तथा व्यक्त (manifested form) रूप हैं। प्रथम को 'निष्कल' तथा दूसरे को 'सकल' की संज्ञा दी गयी है। 'निष्कल' मन्त्रों द्वारा मोक्ष और 'सकल' मन्त्रों द्वारा आनन्द की उपलब्धि होती है।[5] *अहिर्बुध्न्यसंहिता* का उद्‌घोष है 'मन्त्र शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु की शक्ति है।'[6]

जयाख्यसंहिता का कहना है कि भगवान् स्वयं मन्त्र रूप शरीर धारण करते हैं। मधुकैटभ के हनन के लिए भगवान् ने मन्त्रमय रूप धारण किया था, ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[7] भगवान् का स्वयं कथन है— सम्पूर्ण भुवन का आधार त्रैलोक्य का ऐश्वर्य देने वाला मेरा यह वर्णमय पिण्ड (शरीर) मन्त्र विग्रह है।[8]

जयाख्यसंहिता का अभिमत है कि मन्त्र नारायणीय शक्ति है तथा ब्रह्मव्यापक रूप से मन्त्र में विद्यमान है।[9] इस प्रकार पृथ्वी से लेकर परतत्व तक सभी मन्त्रात्मक है—

वाचि मन्त्राः स्थितास्सर्वे वाच्या मन्त्रे प्रतिष्ठिताः।
मन्त्ररूपात्मकं विश्वं स बाह्याभ्यान्तरं ततः।। — *जयाख्यसंहिता, 13/206*

मन्त्रों की उपलब्धियों के विषय में संहिता में यह निर्दिष्ट है कि चराचर जगत् को प्रकाश देने वाली यौगिक पराक्रम से भोग तथा मोक्ष प्रदायिनी मन्त्र रूपी शक्ति का उद्भावन स्वयं भगवान् द्वारा हुआ है।[10] यह मन्त्रमय शक्ति दोषों को क्षय करने वाली, संसार की पालन करने वाली तथा जीवात्मा द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मबन्धन को विनष्ट करके भक्तों को अतिशीघ्र मोक्ष प्रदान करती है।[11] मन्त्र से ब्रह्म का ज्ञान होता है। यह सर्वसिद्धि प्रदायक है। सभी विघ्नों को हटाकर अभिलिषित वस्तुओं को देने वाले हैं। ये राजभोग तथा उत्तमसिद्धि प्रदायक हैं।[12] संहिता में यह प्रतिपादित है कि परतत्त्व वाक् से अतीत, सभी उपमाओं से रहित, स्वसंवेद्य, अतीन्द्रिय तथा सत्तात्मक स्वरूपवान् है, मन्त्रों द्वारा ही यह अभिव्यक्त होता है।[13] इसीलिए मन्त्रों को ब्रह्मस्वरूप स्वीकारा गया है।[14] *संकर्षणसंहिता* में परमज्ञान मन्त्र लक्षण को परिभाषित करते हुए उल्लिखित है—

मननात् त्रायते सद्य इति वै मन्त्रलक्षणम्।[15]

अर्थात् जिसके मनन से तत्काल त्राण (रक्षा) हो वे मन्त्र हैं। *सनत्कुमारसंहिता* का उद्घोष है। मन्त्र-ज्ञान, ज्ञानी का परमज्ञान है। समस्त क्रियायें तथा सम्पूर्ण जगत् मन्त्रमूलक है। भगवान् विष्णु मन्त्रमय है। त्रैलोक्य में मन्त्र के बिना कोई क्रिया नहीं है। सर्वकर्म प्रसाधक मन्त्र ही शब्द ब्रह्म है।[16]

वाक् तत्त्व समस्त प्रकार से सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ तक ब्रह्म तत्त्व है, वहाँ तक वाक् तत्त्व भी। पाञ्चारात्रिक *संकर्षणसंहिता* में शब्दसृष्टिमूल रूप मन्त्रशास्त्र का परब्रह्मत्मिका शक्ति नादात्मिका परा, पश्यन्ती मध्यमा-वैखरी रूप में निर्दिष्ट है। संहिता में वर्ण मातृकाओं की उत्पत्ति क्रम में प्रथम प्रणव (अ-उ-म) वर्णत्रय उत्पन्न होता है। अकार से स्वरों की उत्पत्ति, उकार से कादिमावसान स्पर्शसंज्ञक वर्णों का उदयन तथा मकार शेषवर्णों के उत्पत्तिक्रम का निदर्शन प्राप्त होता है।[17]

मन्त्र-रहस्य गुह्यातिगुह्य विद्या है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में यह निर्दिष्ट है—'मन्त्रो नान्यस्य वक्तव्यः।'[18] समस्त ब्रह्माण्ड में जो व्यक्त-अव्यक्त स्पन्दन है, वही सर्वाङ्ग में परिव्याप्त पञ्चभूतात्मक सृष्टि में है। प्रणव ही वह ध्वनि है। प्रणव के तीनों अक्षर अकार विष्णुवाचक, उकार अवधारणवाचक तथा मकार जीववाचक है।[19] *जयाख्यसंहिता* में प्रणव का उल्लेख प्राया होता है।[20]

जयाख्यसंहिता का कहना है कि मन्त्रजाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय क्रम से उपस्थित होते हैं एवं विलोम क्रम से निवृत्त होते हैं। बाह्य विषयक जगत् जाग्रत्-स्वरूप है तथा इसकी उत्पत्ति अनित्य से कही गयी है जिसके लिए यह संसार क्षणभङ्गुर स्वप्न सदृश है, वह स्वप्नदशा है। सुषुप्ति दशा को शान्तावस्था की संज्ञा दी गयी है। स्वप्नवृत्ति से परे शक्तिरूप विष्णु को प्राप्त करके सुषुप्ति तुर्यावस्था हो जाती है। उस शक्ति के साथ साम्यता होने पर मन्त्रातीत परमन्त्र का स्थूल-सूक्ष्म रूप अद्वय हो जाता है।[21]

भगवान् का परमानन्द, व्यापक तथा अतीन्द्रियरूप 'पर' नाम से प्रसिद्ध है इसीके अनुरूप मूलमन्त्र भी अनिरुद्ध और सप्ताक्षर आदि मन्त्र 'पर' रूप से जाने जाते हैं। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा पर के क्रम से मन्त्रों की शक्ति तथा सामर्थ्य को विविध प्रकार से विवेचित किया गया है।[22]

मन्त्र का निर्माण मातृकाओं से होता है। 'मातृकावर्णरूपीणी' स्वीकारी गयी है।[23] अर्थात् वर्णरूप को मातृका कहते हैं। *जयाख्यसंहिता* में कहा गया है—**'मन्त्रात्मा भगवच्छक्तिः सूत्रमन्त्राक्षराणि वै।'**[24] अर्थात् मन्त्रात्मा भगवच्छक्ति अक्षर रूप में है। संहिता में यह भी उल्लिखित है कि भगवान् के नाना रूपों की भावना 'अ' से शुरू कर 'क्ष' अक्षरों के रूप में करनी चाहिए।[25] तन्त्रविदों के अनुसार देवनागरी लिपि के सभी वर्ण (अक्षर) मातृका रूप है।[26] पं. शिवशंकर अवस्थी का कहना है 'वर्ण' पृथक् रूप में तथा वर्णमाला स्व समुदित रूप में मन्त्र स्वरूप ही है।[27]

निगमागम चिन्तन का चमत्कार अक्षरों पर ही आधारित है। निगम साहित्य के अनुसार अक्षर स्वरूप वाग्देवी का सर्वप्रथम अविर्भाव हुआ। यह वेदों की माता अमृत की नाभि है।[28] *स्वच्छन्द तन्त्र* मातृका की महिमा गाते हुए कहता है 'न विद्या मातृकापरा।'[29] अर्थात् मातृका से परे कोई विद्या नहीं है। *लक्ष्मीतन्त्र* का कहना है कि जैसे भूखे बालक माता की अपेक्षा रखते हैं, उसी भाँति सभी देवों को मातृका रूप वर्णों की अपेक्षा होती है। ये मातृकाएँ मन्त्रों की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं। विद्या का स्थान है। तत्त्वों की तथा तात्त्विकों एवं ज्ञानों की प्रसवस्थली हैं—

यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वे सुरा देवीं मातृकां पर्युपासते।।
अयं योनिर्हि मन्त्राणां विद्यानां जन्मभूरियम्।
तत्त्वानां तात्त्विकानां च ज्ञानानां प्रसवस्थली।। —*लक्ष्मीतन्त्रम्*, 20/51-52

जयाख्यसंहिता ने मन्त्र-निरूपण-क्रम में वर्णों की उत्पत्ति-क्रम स्पष्टतया प्रतिपादित है। स्वर वर्णों की उत्पत्ति क्रम में स्वरों का आदि वर्ण 'अ'कार अव्यय कहा गया है। अकार से इकार की, इकार से उकार की, उकार से ऋकार की, ऋकार से लृकार की, लृकार से एकार की, एकार से ओकार की, ओकार से अंकार की उत्पत्ति कही गयी है। इन्हीं आठ वर्णों से तत्तद् आठ दीर्घ वर्णों की उत्पत्ति होती है, यथा—अकार से आकार की, इकार से ईकार की, उकार से ऊकार की, ऋकार से ॠकार की, लृकार से लॄकार की, एकार से ऐकार की, ओकार से औकार और अंकार से अ:कार का क्रम निर्दिष्ट है। ये सोलह अक्षर अग्निषोमात्मक प्रभु के स्वरूप है।[30]

अग्निसोमात्मक वर्ण—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अ: है।

स्वरवर्णों की उत्पत्ति के अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति का भी क्रम निर्दिष्ट है। कादिमान्त व्यञ्जनवर्ण क्रमश: जो पञ्चवर्ग है, वे पृथ्वी, पुरुष आदि विभिन्न तत्त्वों के प्रतीक हैं। य, र, ल तथा व ये चारों वर्ण

क्रमश: जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय स्वरूप हैं अर्थात् ब्रह्म की स्थिति इन चारों अवस्थाओं में मानी जाती है। श से क्ष अर्थात् श, ष, स, ह तथा क्ष में वह ब्रह्म तूर्यातीत रूप में स्थित होता है। संहिता का कहना है कि वर्ण–स्वरूप दिव्य परमपुरुष का अनुभव मात्र पुस्तकों से सम्भव नहीं है, बल्कि इसके लिए मन्त्रोद्धार की साधना आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्म का वर्णरूप शरीर चार वर्णों में विभक्त है, जो उन अव्यात्मक वर्णों को धारण करके मन्त्रों का उद्धार करता है।[31]

मन्त्रोद्धार विधि क्रम में प्रत्येक वर्णों का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं कर उनकी (मातृकाओं) को वर्णों में विभाजित तत्तदवर्गस्थ प्रत्येक वर्ण भी विविध संज्ञाएँ दी गई है, जिनका स्वरूप अधोलिखित है—

क्रमांक	वर्ण	संज्ञायें
1.	अ	अप्रमेय, प्रथम, व्यापक।
2.	आ	आदिदेव, आनन्द, गोपन।
3.	इ	राम, इष्ट, इद्ध।
4.	ई	पञ्चबिन्दु, विष्णुमाया, द्विजाधिप।
5.	उ	भुवन, उद्दाम, उदय।
6.	ऊ	ऊर्जस्, लोकेश, प्रज्ञाधार।
7.	ऋ	सत्य, ऋतधामा, अङ्कुश।
8.	ॠ	विष्टर, ज्वाला, प्रसारण (प्रधा)।
9.	लृ	लिङ्गात्मा, भगवान्, तारक।
10.	लॄ	दीर्घघोण, देवदत्त, विराट्।
11.	ए	त्रयस्र, जगद्योनि, अविग्रह।
12.	ऐ	ऐश्वर्य, योगधाता, समैरावण।
13.	ओ	ओतदेह, ओदन, विक्रमी।
14.	औ	और्व, भूधर, ओषध।
15.	अं	त्रैलोक्यैश्वर्यद, व्यापी, व्योमेश।
16.	अ:	सृष्टिकृत, अकार, परमेश्वर।
17.	क	कमल, कराल, प्रकृतिपरा।
18.	ख	खर्वदेह, वेदात्मा, विश्वभावन।

19.	ग	गदध्वंसी, गोविन्द, गदाधर।
20.	घ	धर्मींशु, तेजस्वी, दीप्तिमान्।
21.	ङ	एकदंष्ट्र, भूतात्मा, विश्वभावक।
22.	च	चञ्चल, चक्री, चन्द्रांशु।
23.	छ	छलविध्वंसी, छन्द, छन्द:पति।
24.	ज	अजित, जन्महन्ता, शाश्वत।
25.	झ	झस, सामात्मा, सामपाठक।
26.	ञ	उत्तम, ईश्वर, तत्वसाधक।
27.	ट	चान्द्री, आह्लाद, विश्वाप्यायन।
28.	ठ	कौस्तुभ, नेमि, धाराधर।
29.	ड	दण्डधार, मौसल, अखण्ड विग्रह।
30.	ढ	विश्वरूप, वृषकर्मा, प्रतर्दन।
31.	ण	अभयद, सास्ता, वैकुण्ठ।
32.	त	तललक्ष्मा, वैराज, स्रग्धर:।
33.	थ	धन्वी, भुवनपाल, सर्वरोधक।
34.	द	दत्तावकाश, दमन, शान्तिद।
35.	ध	साङ्गधृत, हर्ता (हामा), माधव।
36.	न	नर, नारायण, पन्था।
37.	प	पद्मनाभ, पवित्र, पश्चिमानन।
38.	फ	फुल्लनयन, लाङ्गली, श्वेत।
39.	ब	वामन, ह्रस्व, पूर्णाङ्ग।
40.	भ	भल्लायुध, सिद्धिप्रद, ध्रुव।
41.	म	मर्दन, काल, प्रधान।
42.	य	चतुर्गति, सूक्ष्म, शङ्ख।
43.	र	अशेषभुवनाधार, अनल, कालपावक।

44.	ल	विबुध, धरेश, पुरुषेश्वर।
45.	व	वराह, अमृतधारा, वरुण।
46.	श	शङ्कर, शान्त, पुण्डरीक।
47.	ष	नृसिंह, अग्निरूप, भास्कर।
48.	स	अमृत, तृप्ति, सोम।
49.	ह	सूर्य, प्राण, परमात्मा।
50.	ळ	अनन्तेश
51.	क्ष	गरुड।[32]

इस प्रकार *जयाख्यसंहिता* में एक-एक वर्ण के तीन-तीन नाम निर्दिष्ट हैं। तत्पश्चात् कहा गया है— '**अनन्तेश: ळकारास्तु वर्गान्तो गरुड: स्मृत:।**' अष्टमवर्ग के पश्चात् मात्र क्षकार का नामोल्लेख है। वर्गान्त से क्षकार वर्ण की विवक्षा यह स्पष्ट नहीं है।

मन्त्रोद्धार क्रम में पाञ्चरात्र संहिताओं में मातृका पीठ के निर्माण का निर्देश है। *ईश्वरसंहिता*[33], *श्रीप्रश्न-संहिता*[34], *जयाख्यसंहिता* में मातृका चक्र के कल्पन का विवरण है। *जयाख्यसंहिता* में नारद के द्वारा मन की चञ्चल स्थिति के नियन्त्रण के सन्दर्भ में प्रश्न करने पर श्री भगवान् का कहना है कि मन्त्र से भुक्ति और मुक्ति दोनों ही सम्भव है। अत: साधक सर्वप्रथम शुद्ध भूमि भाग को गोमय से लीपकर, पञ्चगव्य से संसिक्त कर तथा चन्दनादि द्रव्यों का उपलेप कर मातृका पीठ की कल्पना करें। निवात स्थल में सुसंच्छन्न स्थान को धूपादि से अधिवासित करते हैं तथा विविध पुष्पों से उसकी पूजा करते हैं। उसके ऊपर चतुरस्र या सुवृत्त दो हाथ अथवा एक हाथ का पीठ बनाते हैं। कल्पित पीठ सुसम होता है।[35]

जयाख्यसंहिता में अष्टार महाचक्र के कल्पन का विधान है। इस चक्र में प्रथम अकारादि क्षकारान्त अवर्गादि आठ वर्गों का उल्लेख किया जाता है। मध्य में वर्णचक्र प्रणव का उल्लेख किया जाता है। इस विधान से मातृका चक्र की स्थापना कर उसकी विधिवत् पूजा की जाती है। पूजा क्रम में प्रत्येक वर्ण का पाद्य अर्घ्य आदि के द्वारा पृथक्-पृथक् अर्चन करते हैं।[36] मातृका चक्र का कल्पित स्वरूप पूर्वोक्त में वर्णित है।

जयाख्यसंहिता में कहा गया है कि मन्त्रों के हृदयादि अङ्ग होते हैं। ये अङ्ग हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र तथा अस्त्र। इनके साधन से साधक की आयुर्वृद्धि होती है तथा सभी प्रकार के सुख तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में जाति का समन्वय भी अपेक्षित होता है। ये जातियाँ छ: प्रकार की होती हैं—1. नम:, 2. स्वाहा, 3. वषट्, 4. वौषट्, 5. हुं तथा 6. फट्।[37] *नारदीयसंहिता* को भी जयाख्य का यह वर्णन मान्य है।[38] जयाख्यसंहिता में मंत्रों के द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक उभयसिद्धि का होना कहा गया है। इनमें ऐहिलौकिक सिद्धि के लिए मन्त्रों में उपर्युक्त जातियों के योग का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।[39]

मन्त्रशास्त्र में जप का महत्त्व जानना जरूरी है। देवता के अनुग्रह का अङ्ग जप है।

श्री कृष्ण गीता (10/25) में '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' कहा है। *जयाख्यसंहिता* में 'जपविधान' नामक पटल में '**जपयज्ञविधानेन देवं सन्तर्पयेत्ततः**' श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट कथन है। जप तीन प्रकार का बताया गया है तथा उनके प्रयोजन भी प्रतिपादित हैं—

वाचिक जप	शुद्धकर्म
उपांशु जप	सिद्धिकर्म
मानस जप	मोक्षकामार्थ[40]

अक्षसूत्रविधान मणिप्रमाणादि का विशेष विवेचन[41], जपारम्भ से पूर्व मनसा, वाचा तथा कर्मणा शक्ति सहित नारायण का ध्यान करना कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से तुर्या अवस्था शक्तिरूप विष्णु का अनुसन्धान कर जप शुरू करना चाहिए। जपसंख्या तथा मेरुलङ्घन का निषेध किया गया है।[42] शान्तिक पौष्टिकादि निमित्तभेद से मन्त्रध्यान की भिन्नता निर्दिष्ट है।[43] '**परापरस्वरूपेण जपस्तु द्विविधः स्मृतः**'—जप के (पर और अपर) द्विविध रूप माने गये हैं।[44] अधिकारी भेद तथा सत्वादिगुण भेद से जपकाल में भिन्नता बताई गयी है।[45]

पाञ्चरात्रागम में सामान्यरूप से तीन तरह के मन्त्रों का निर्देश है—1. सौम्य, 2. आग्नेय तथा 3. सौम्याग्नेय। सौम्य मन्त्र के रूप में विष्णु, गायत्री, मूलमन्त्रद्वय, आग्नेयमन्त्र के अन्तर्गत नारसिंहमन्त्र, चक्रमन्त्र, पद्ममन्त्र, शङ्खमन्त्र, गरुडमन्त्र तथा सौम्याग्नेय मन्त्र के अन्तर्गत पाशमन्त्र, अङ्कुश मन्त्र आते हैं।[46] मन्त्रों का सौम्यीकरण तथा उसी प्रकार आग्नेयीकरण भी होता है। यदि आग्नेय मन्त्र नमस्कारान्त हो तो सौम्य मन्त्र हो जाता है। सौम्य मन्त्र के अन्त में यदि फट्कार, हुङ्कार का प्रयोग हो तो वही सौम्य मन्त्र आग्नेय मन्त्र हो जाता है। मन्त्रों के बीज मन्त्र तथा अङ्ग मन्त्रों का विशिष्ट स्थान होता है। कहा गया है कि मन्त्रों के पञ्च अङ्गों सहित जो बीज मन्त्र का जप करता है, जो चाहता है, वह प्राप्त कर लेता है।[47]

इसके अतिरिक्त *जयाख्यसंहिता* का पटल 6 तथा पटल 26 से लेकर 32 तक मन्त्र के विविध स्वरूप, प्रयोगविधि, ध्यान प्रकार तथा फलश्रुति आदि विषयों के विशद प्रतिपादन के प्रति समर्पित है। सच तो यह है कि संहिता के एक तिहाई भाग में मन्त्र-विचार ही वर्णित हैं। मन्त्रों की गोपनीयता सदा बनाये रखनी चाहिए। धूर्त, छली, दुष्ट, नास्तिक के सामने मन्त्र नहीं बताना चाहिए। गुरु सेवा में रत, दृढ़, श्रद्धा वाले के सामने ही मन्त्र व्यक्त करना चाहिए।[48] प्रस्तुत शोधपत्र में मन्त्र का एक सामान्य परिचय है। वस्तुतः इसके विशद विवेचन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसमें समस्त संहिता ग्रन्थों की तुलना के साथ वर्णन किया जाय। यह इस दिशा में एक प्रयास मात्र है।

सन्दर्भ

1. *पेनरोमा ऑफ पाञ्चरात्र लिटरेचर,* प्रकाशित-मद्रास, उद्धृत *'एक विश्व : एक संस्कृति'*, पं. व्रजवल्लभद्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-1, 2003 ई., पृ. 128
2. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण: स्वयम् — *महाभारत,* शान्तिपर्व, 349/67
3. रत्नेषु त्रिस्वपि श्रेष्ठं जयाख्यं तन्त्रमुच्यते — *जयाख्यसंहिता,* पटल 1/108
4. मननान्मुनिशार्दूल त्राणं कुर्वन्ति वै तत:। ददते पदमात्मीयं तस्मान्मन्त्रा: प्रकीर्त्तिता।। — *जयाख्यसंहिता,* 13/203
5. *जयाख्यसंहिता,* 4/26-33
6. 'साक्षात् विष्णो: क्रिया शक्ति: शुद्ध संविन्मयीपरा', *अहिर्बुध्न्यसंहिता,* 16
7. *जयाख्यसंहिता,* 2/57
8. अशेषभुवनाधारं त्रैलोक्यश्वर्यदायकम्। एष वर्णमय: पिण्डपरो मे मन्त्र विग्रह:।। — *जयाख्यसंहिता,* 6/21
9. तत्रैव, 14/57
10. तत्रैव, 4/30-31
11. तत्रैव, 4/32-33
12. तत्रैव, 5/31-36
13. *जयाख्यसंहिता,* 5/29-31
14. *जयाख्यसंहिता,* 14/56
15. *संकर्षणसंहिता*, मन्त्ररात्रम्, 1/6
16. (क) *सनत्कुमारसंहिता*, ब्रह्मरात्रम्, 11/1-3
    (ख) *संकर्षणसंहिता*, मन्त्ररात्रम्, 1/12
17. *संकर्षणसंहिता*, मन्त्ररात्रम्, 1/20-53
18. *विश्वामित्रसंहिता*, 9/76
19. *विश्वामित्रसंहिता*, 6/1,19-21
20. *जयाख्यसंहिता,* 26/101
21. *जयाख्यसंहिता,* 14/55-63
22. *जयाख्यसंहिता,* 16/18-46 क।
23. ललितासहस्रनाम, श्लोक 16
24. *जयाख्यसंहिता,* 14/41
25. *जयाख्यसंहिता,* 6/32-58
26. *तन्त्रसिद्धान्त और साधना* — देवदत्त शास्त्री, पृ. 183

27. *मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य*, पृ. 206
28. वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नभि: —*तैत्तिरीयब्राह्मण*, 2/8/8/5
29. *स्वच्छन्दतन्त्र*, 11/199
30. षोडशाक्षर आद्यस्तु अकाराद्यो द्विजोत्तम। विसर्गान्तस्थितस्तस्मिन्नग्निषोमात्मक: प्रभु:।।– *जयाख्यसंहिता,* 6/11
31. *जयाख्यसंहिता,* 6/10-24
32. *जयाख्यसंहिता,* 6/32-58
33. ईश्वरसंहिता, 23/62-71
34. श्रीप्रश्नसंहिता, 51/33-34
35. *जयाख्यसंहिता,* 6/5-9
36. *जयाख्यसंहिता,* 6/26-29
37. *जयाख्यसंहिता,* 6/105-138
38. नारदीयसंहिता, 5/98-100
39. *जयाख्यसंहिता,* 6/105-138
40. *जयाख्यसंहिता,* 14/2-4
41. *जयाख्यसंहिता,* 14/5-18
42. *जयाख्यसंहिता,* 14/52-56
43. *जयाख्यसंहिता,* 14/69-75
44. *जयाख्यसंहिता,* 14/78
45. *जयाख्यसंहिता,* 14/87-89
46. *जयाख्यसंहिता,* 6/135-188
47. *जयाख्यसंहिता,* 6/200-201
48. *जयाख्यसंहिता,* 7/115-117

सहायक प्रोफेसर, धर्मागम विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

वैदिकतान्त्रिककर्मकाण्डयोः स्वीकार्यता

डॉ. सुभाषशर्मा

श्रुतौ ज्ञानकाण्डकर्मकाण्डयोः प्रतिपादनं प्रामुख्यं भजते। तत्र आध्यात्मिकतत्त्वचिन्तनं विहितम्, धार्मिककर्मकाण्डस्य च चर्चा जाता। वैदिककर्मकाण्डस्य एतदेव प्रयोजनं यदस्माकं जीवने आहार-विहार-व्यवहारान्तःकरणशुद्धिर्यथा स्यात्। एवमेव-'तन्त्रमपि वेदमूलकम्' इति सामान्यावधारणा लोके प्रचलिता। एतादृशाः विषयाः प्रासङ्गिकतया एव समापतिताः वेदे, नैते वस्तुतः वेदविषयाः।

सायणाचार्यः वेदभाष्यकारेषु अर्वाचीनेषु विद्वत्सु सर्वथा समादृतोऽस्ति। तेन उद्धृतमस्ति—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यश्चार्थो नावबुद्ध्येत।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

यः प्रत्यक्षानुमानयोः विषयो नास्ति स आध्यात्मिको विषयो वेदे उक्तः। ये विषयाः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा सिध्यन्ति ते न हि शब्दविषया भवितुमर्हन्ति। समस्ताधुनिकभौतिकविषयाणां ज्ञानमनुमानेन प्रत्यक्षेण वा सम्भवति। वेदस्तु एताभ्यामुभाभ्यां प्रमाणाभ्यामतिरिक्तं भिन्नं प्रमाणम्। अतः 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति धारणा विद्वत्समुदाये प्रतिष्ठितास्ति। यो हि नान्यप्रमाणविषयः स शब्दगम्यः। यथा—जीव-ब्रह्म-स्वर्ग-नरक-देवतादयोऽलौकिकपदार्थाः शब्दविषया भवन्ति, अप्रत्यक्षत्वादननुमेयत्वाच्च। श्रीवीरराघवाचार्येण *श्रुतप्रकाशिकाटीकासहितश्रीभाष्ये* दर्शनविवेकप्रकरणे पद्यमिदमुद्धृतम्—

प्रत्यक्षेण यथा तथा प्रबलया युक्त्या प्रकृष्टागमैः
दृष्टस्य स्फुटदर्शकं भवति यत् तत् दर्शनं विश्रुतम्।
पाराशर्यमहर्ष्युपज्ञमनघं शारीरकं तत् पुनः
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिदर्शितयथाभूतार्थमालक्ष्यते।।[१]

अस्येदं तात्पर्यम्—सर्वं भौतिकं विज्ञानं प्रत्यक्षविषयकं दर्शनमुच्यते अध्यात्मविषयकं सर्वं स्वर्गेश्वरादिबोधकं ज्ञानं शब्दप्रमाणविषयकमिति स्पष्टम्।

चतुष्प्रकारकाः भवन्ति पुरुषार्थाः। अत्र पुरुषशब्दात् जीवात्मा गृह्यते। अर्थशब्देन च प्रयोजनं स्वीकृतमस्ति। अतः पुरुषस्य (जीवात्मनः) चत्वारि प्रयोजनानि। जीवात्मनः जीवनस्य प्रयोजनं लक्ष्यमुद्देश्यं वा

---

[१] *श्रीभाष्ये* वीरराघवाचार्यकृतश्रुतप्रकाशिकाटीकायां दर्शनविवेकप्रकरणे, श्रीविशिष्टाद्वैतप्रचारिणी सभा, मद्रास, सन् 1989

पुरुषार्थशब्देन व्यवह्रियते। एते चत्वारः—धर्मार्थ-काम-मोक्षस्वरूपाः सन्ति। जीवनस्य एते चत्वारो लक्ष्याः। धर्मार्थकामाश्च त्रिवर्गः। त्रिवर्गोऽयं ऐहिकामुष्मिकोन्नत्यै साधनस्वरूपो भवति। त्रिवर्गः चतुर्थपुरुषार्थस्य मोक्षस्य परम्परया कारणम्। एतेषां पुरुषार्थानां सम्प्राप्तये ज्ञानकर्मणी एते द्वे साधने स्तः। यथा हि वेदभाष्ये सायणेन उक्तम्—'धर्मब्रह्मणी वेदविषयः।' अस्येदं तात्पर्यं यत् चतुर्थपदार्थस्य सिद्धये कर्मज्ञाने असाधारणं कारणं भवतः। वेदोक्तकर्मणां स्पष्टीकरणं श्रौतसूत्रेषु सञ्जातमस्ति। एतदपि अनुभवपथे आगतं यत् यज्ञेष्वपि अधिकारसिद्धये जीवात्मनः संस्कारोऽप्यपेक्ष्यते। एतेषां संस्काराणां स्वरूपनिरूपणं गृह्यसूत्रेष्वपि प्राप्यते। एतानि गृह्यसूत्राणि एव वयं स्मार्तकर्मबोधकत्वेन स्वीकुर्मः। *श्रीमद्भागवतमहापुराणेऽपि* दृश्यते—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥[1]

अत्र भगवद्वचनमिदं यत् कर्मयज्ञास्त्रिविधाः – वैदिकः, तान्त्रिकः, मिश्रश्च। एतेषु त्रिषु यथेच्छं रुचिकरं वा स्यात् तेन कर्मणा ममार्चनं कुरु।

अस्य तात्पर्यामिदं यत् श्रौतसूत्रेषु गृह्यसूत्रेषु च वर्णितकर्माणि वेदप्रतिपादितानि स्वीकृतानि। तथा एतेभ्यः एव कर्मभ्यः प्रत्येकास्तिकजनः चतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्नोति। किन्तु कालक्रमानुसारं परिवर्तनमागतम्, तथा वैदिककर्मकाण्डस्य विलोपो जातः। एवं गृह्यसूत्रोक्तकर्माणि एव अवशेषमात्राणि अभूवन्। व्यतीतेन च समयेन अवशिष्टकर्मसु तान्त्रिककर्मणां प्रयोगः वैदिककर्मस्थाने समभवत्। संस्काराः अपि परिसमाप्ताः। संस्कारेषु प्रमुखः यज्ञोपवीतसंस्कारोऽपि परित्यक्त एव। एतदनन्तरं तान्त्रिककर्मणोऽपि तावान् विस्तारो जातः येन मानवीयजीवनचर्याऽपि तन्त्रोक्तकर्मभिर्बाधिता। यदि कोऽपि जनः प्रातःकालादरभ्य रात्रिपर्यन्तं तन्त्रक्रियायां रतः स्यात् तर्हि पठनम्, लेखनम्, अर्जनम्, खादनम् इत्यादि कर्माणि कदा भविष्यन्ति? अत एव मिश्रपद्धतेरवतारः सञ्जातः। अस्यां पद्धतौ च वैदिकतान्त्रिकोभयविधपद्धतेः समावेशः कृतः। अतोऽत्र न तु केवलं वैदिकत्वं न च तान्त्रिकत्वमपि तु किमपि नवीनमेव कर्म समागतम्।

वस्तुतो वैदिकसंहितासु वेदाङ्गेषु च कर्मकाण्डविषयकचिन्तनमस्ति। अत आर्षकर्म एव वैदिककर्म इति हि सुसिद्धम्। तान्त्रिककर्माणि मिश्रकर्माणि चापि वस्तुतः आर्षकर्माणि एव। परन्तु तान्त्रिककर्माणि विस्तारेण वैदिककर्मत्यागः स्व-स्वानुष्ठानाविष्कारश्च सञ्जातः। अत एव शास्त्रेषु वैदिककर्मणां खण्डनं न प्राप्यते अपितु तान्त्रिककर्मणां खण्डनमुपलभ्यते । अत्र संक्षेपेण प्रमाणसहितं किञ्चित् प्रस्तूयते।

वैष्णवतन्त्रम्

वैष्णवानां प्रमुखतन्त्रग्रन्थाः पञ्चरात्रसात्वततन्त्रादयः सन्ति। वैष्णवतन्त्रे पञ्च संस्काराणां विधानमस्ति–

---

[1] *श्रीमद्भागवतमहापुराणे*, 11.27.7

तापः पुण्ड्रं तथा माला मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्कारा: परमैकान्तहेतवः।।

निर्णयसिन्धौ तप्तमुद्राधारणस्य प्रयोग उक्तः। यथा–“अत्रैव तप्तमुद्राधारणमुक्तं *रामार्चनचन्द्रिकायां* भविष्ये—

शयन्यां चैव बोधिन्यां चक्रतीर्थे तथैव च।
शङ्खचक्रविधानेन वह्निपूतो भवेन्नरः।। इति।

‘अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते’ इति ऋग्वेदात्, ‘स होवाच, याज्ञवल्क्यस्तस्मात्पुमानात्महिताय हरिं भजेत्। सुश्लोकमौलेर्वर्माण्यग्निना संदधते’ इति शतपथश्रुतेः, ‘प्रतद्विष्णो अब्जचक्रे सुतप्ते जन्माम्भोधिं तर्तवे चर्षणीन्द्राः। मूले बाह्वोर्दधन्ये पुराणा लिङ्गान्यङ्गे तावकायार्पयन्ति’ इति सामवेदात्।

अग्निहोत्रं यथा नित्यं वेदस्याध्ययनं यथा।
ब्राह्मणस्य तथैवेदं तप्तमुद्रादिधारणम्।। *इति पद्मपुराणाच्चेति।*

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः।
शङ्खचक्राङ्किततनुस्तुलसीमञ्जरीधरः।।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः।।
तत्प्रकारस्तु रामार्चनचन्द्रिकातो ज्ञेयः।।[1]

किञ्च, तान्त्रिकाणां मतमिदं महामीमांसकेन कमलाकरभट्टेन *निर्णयसिन्धौ* अनुपदमेव प्रत्याख्यातम्—

पृथ्वीचन्द्रोदयादयस्तु **‘यस्तु संतप्तशङ्खादिलिङ्गचिह्नतनुर्नरः।**
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालो जन्मकोटिषु।।
द्विजं तु तप्तशङ्खादिलिङ्गाङ्किततनुर्नरः।
संभाष्य रौरवं याति यावदिन्द्राश्चतुर्दश।। इति *बृहन्नारदीयोक्तेः।*

शङ्खचक्राद्यङ्कनं च गीतनृत्यादिकं तथा।
एकजातेरयं धर्मो न जातु स्याद्द्विजन्मनः।।
शङ्खचक्रे मृदा यस्तु कुर्यात्तप्तायसेन वा।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।
यथा श्मशानजं काष्ठमनर्हं सर्वकर्मसु।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः।।

---

[1] *निर्णयसिन्धौ,* द्वितीयपरिच्छेदे, आषाढमासकृत्यनिर्णये, तप्तमुद्राधारणप्रकरणे।

तथा—शिवकेशवयोरङ्काञ्छूलचक्रादिकान्द्विजः।
न धारयेत मतिमान्वैदिके वर्त्मनि स्थितः।।

इति विष्णवाश्वलायनादिवचनात् ऋग्वेदादिश्रुतीनामन्यार्थत्वादन्यश्रुतीनां चासत्त्वाच्चक्रादिधारणं शूद्रविषयमित्यूचुः। 'नृत्यं चोदरार्थं निषिद्धम्' इति श्रीधरस्वामी। यद्यपि निषेधस्य प्राप्तिसापेक्षत्वाद्विधिं विना च तदयोगादुपजीव्यविरोधेन 'न तौ पशौ करोति' इतिवद्विकल्पो युक्तः, तथापि 'एकजातेरयं धर्मः' इत्यनेन सामान्यवाक्यानामुपसंहाराद् द्विजातिनिषेधो नित्यानुवाद इति तदाशयः। अत्र शिष्टाचार एव संकटपाशनिःसरणसरणिरिति संक्षेपः।"[१]

शाक्ततन्त्रम्

शाक्ततन्त्रं दक्षिणवामभेदेन द्विविधम्। तयोरपि 'दक्षिणादुत्तमं वामम्' इत्यादिवचनैः वाममार्गस्याधिकं प्रशंसनमस्ति। धर्मशास्त्रकाराः अस्यापि निषेधं कुर्वन्ति। *धर्मसिन्धोः* शारदीयनवरात्रप्रकरणे—"तत्र विप्रेण जपहोमान्नबलिनैवेद्यैः सात्त्विकीपूजा कार्या।। 'नैवेद्यैश्च निरामिषैर्मद्यं दत्त्वा ब्राह्मणस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते।। 'मद्यमपेयमदेयम्' इत्यादिनिषेधान्तमांसमद्यादियुतराजसपूजायां ब्राह्मणस्य नाधिकारः। मद्यपाने मरणान्तप्रायश्चितोक्तेः। स्पर्शे तदङ्गच्छेदोक्तेश्चाल्पप्रायश्चित्तेन दोषानपगमेन पातित्यापातात्।। इत्यमेव सर्वे प्राचीना नवीनाश्च निबन्धकारा निर्बन्धनेन लिखन्ति। नवीनतरा भास्कररायप्रभृतयोऽपि सप्तशतीटीकादौ प्राचीनग्रन्थान–नुसृत्यैवमेव परिकुर्वन्ति सभायां चैतन्ममतमेव श्लाघन्ते चाचरणं त्वन्यथा कुर्वन्ति तत्किं स्वयं दुर्दैववशेन ब्राह्मण्य–भ्रष्टोऽभूवमन्येप्येव माभूवन्निति भूतदयया वा स्वपातित्यगोपनाय वान्येषां कलियुगस्थविप्राणामधिकाराभावा- लोचनया वेति न वयं तत्त्वं जानीमः।।"[२]

आचार्यशङ्करः *स्ववेदान्तसूत्रभाष्ये* तान्त्रिकानालोचयति। पाञ्चरात्रस्य समर्थकाः वैष्णवाचार्याः पाशुपतशाक्तादीन् निन्दयन्ति। वेदान्तसूत्रस्य 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति सूत्रभाष्ये रामानुजाचार्य आह—

"पशुपतिमतं निःश्रेयसार्थिभिरादरणीयमुत नेति संशयः। आदरणीयमिति पूर्वः पक्षः। सकलपुरुषार्थसाधनावबोधित्वेन निखिलदोषगन्धवेदसिद्धपरापरतत्त्वव्यत्ययप्रतिपादनान्निमित्तोपादानभेदाभिधानात्सुराकुम्भस्थापनतत्स्थदेवपूजामुद्रिकाषट्कविज्ञानतद्धारणारूपविरुद्धाचारप्रतिपादनाच्चासामञ्जस्यादनादरणीयमिति।। सूत्रार्थस्तु पत्युरसामञ्जस्यात्। नैकस्मिन्न संभावादित्यतो नेत्यनुवर्त्तते।। पत्युपशुपतेर्मतं नादरणीयम्। कुतः। वेदविरुद्धतत्त्वाचारावबोधित्वेनासामञ्जस्यात्।[३]

---

[१] *निर्णयसिन्धौ,* द्वितीयपरिच्छेदे, आषाढमासकृत्यनिर्णये, तप्तमुद्राधारणप्रकरणे।

[२] *धर्मसिन्धौ,* शारदीयनवरात्रप्रकरणे।

[३] *वेदान्तदीपे,* द्वितीयाध्याये, द्वितीयपादे, पशुपत्याधिकरणे सूत्रसंख्या-35

एवमेव रामानन्दाचार्येण अस्यैव सूत्रस्य *आनन्दभाष्ये* उक्तम्—"पूर्वाधिकरणे वैदिकाचारविधुराणां लुञ्चितकेशानां दिगम्बराणां मतमपाकृतम्। तद्वद्वैदिकाचाररहितानां शैवानां मतं मतिस्थमायातीति तन्निरस्यते। तत्र केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादिनां कापालकालामुखपाशुपतानां शैवानामन्येषाञ्च नैयायिकादीनां मतस्य सामञ्जस्यमाहोस्विन्नेति संशये सामञ्जस्यमिति पूर्वपक्षः।

तथा हि– पशुपाशविमोक्षणार्थं कापालिकी पाशुपती च दीक्षावश्यं ग्राह्या। तत्र निमित्तोपादानयोर्भेदो निमित्तकारणञ्च पशुपतिः। मुद्रिकाषट्कधारणादिकमेव मोक्षसाधनम्। तथा चोक्तं शैवागमे—

कण्ठिका रुचकश्चैव कुण्डलञ्च शिखामणिः।
भस्मयज्ञोपवीतञ्च मुद्राषट्कं प्रचक्षते।।
मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः।
भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति।।

गणकारिकायाम्—

लाभामला उपायाश्च देवावस्था विशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः।। इति।

धर्मार्थादिसाधकव्यापारस्य विधैर्द्वैविध्यम्। प्रधानभूतत्वं गुणभूतत्वञ्च। तत्र प्रधानभूता साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या। साऽपि द्विविधा। व्रतरूपा द्वाररूपा च। तदुक्तं नकुलीशेन 'भस्मस्नानशय्योपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्' भस्मना त्रिषवणं स्नायीतेत्यादिकम्। क्राथनस्यन्दनमन्दनशृङ्गारणावितत्करणावितद्भाषणानि द्वाराणि। स्पष्टमेतत्तन्त्रे। एवं कालामुखागमे कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनानि कुम्भे देवराधनानि चाभीष्टफलोपलम्भकानि। एवञ्च कापालिकादिदर्शनानां सामञ्जस्यम्।।"[१]

अतः वेदान्तदर्शनेषु समस्तानि तन्त्राणि अवैदिकानीत्युक्त्वा तान्त्रिककर्मणां निषेधः कृतः। मिश्रकर्माण्यपि तान्त्रिककर्मभ्यः न भिन्नानि श्रौतस्मार्तकर्मविरोधित्वात्। यथा वैदिकसन्ध्योपासनायां मातृकान्यासभूशुद्धि-भूतशुद्धिगायत्रीतर्पणमुद्रादि संयोज्य वैदिकसंध्यायाः तान्त्रिकसन्ध्यायाश्च संक्षिप्तं स्वरूपं निर्मितम्। तन्त्रमतस्य प्रारम्भे समये वैदिकसन्ध्यानन्तरं तान्त्रिकसन्ध्यायाः विधानमासीत्। एवमेव तत्समये पूजाबलियन्त्रादिकर्मणामपि अति विस्तार आसीत्। एषु कर्मसु अत्यधिकः समयः व्यतीतोऽभवत्, अतः दैनिकदिनचर्याजीविकादीनां कृतेऽपि समयो नासीत्। विस्तारभयात् अस्मिन् विषये नात्रोच्यते।

वैदिककर्मणां वर्णनं श्रौतसूत्रेषु गृह्यसूत्रेषु चोपलभ्यते। तेषां कर्मणां दार्शनिकप्रामाणिकत्वमपि पूर्वमीमांसादर्शने वर्णितम्। परवर्तिकाले वैदिकर्मकाण्डाद् भिन्नेषु तान्त्रिकर्मसु जनानां प्रवृत्तिरभवत्। तदनन्तरञ्च मिश्रितकर्माणि तु अतीव विकृतस्वरूपं प्राप्तानि।

---

[१] *आनन्दभाष्ये* पत्यधिकरणे, 2.2.37

तन्त्रेषु दीक्षा प्रधानभूतमङ्गमस्ति। दीक्षाग्रहणस्य अतीव विस्तृतं प्रकरणमस्ति, अत: वर्तमानपरिस्थितिषु एतत् पूर्णतया कथमपि न सम्भवम्। स्थानशोधनसंस्कारभूशुद्धिभूतशुद्धिमुद्रान्तर्मातृकान्यासबहिर्मातृकान्यास-अग्न्युत्पादनहोम-कुण्डसंस्कार-अग्निसंग्रह-संगृहीताग्निसंस्कार-पीठशक्ति-मन्त्र-मन्त्रन्यास-यन्त्र-यन्त्रावरण-देवतापूजन-पादासादन-बलि-जप-जपाङ्गहोम-अष्टोत्तरशतनाम-सहस्रनामादिपाठ-प्रातर्मध्याह्न-सायमर्धरात्रीति चतु: सन्ध्यादितान्त्रिककर्माण्यत्र संक्षेपेण लिखितानि। एतत् सर्वं कृत्वा मनुष्य: कथमाजीविकामर्जयितुं समर्थ:। तस्य कृते आजीविकार्जनार्थं समय एव अवशिष्टो न भवति। परञ्च साधनायाश्चमत्कारो वर्तते यत् तस्य साधकस्य जीविकाऽपि परमसत्तानुग्रहत: सम्यक्तया प्रचलति। तत्र कोऽपि बाधा नायाति इति साधकानामनुभव एव प्रमाणम्। तथापि समयानुसारं संक्षेपेणैव कर्मानुष्ठानमाचरणीयमिति ऋषीणां पुनराद्यानां मतानुसारं विचार्यैव संसाधनीयम्।

वस्तुतोऽत्रावधेयम् वैदिकालादेव देव्यथर्वशीर्षादिषु तान्त्रिककर्मकाण्डो विहित एव। तन्त्रशब्दस्य विस्तार एव पदार्थ:। वैदिककर्मकाण्डस्य कृतयुगे प्रधानता, त्रेतायां स्मार्तकर्मण: प्राधान्यम्। द्वापरे पुराणविधानस्यानिवार्यता। कलौ आगमस्य तन्त्रविधानस्य सर्वोच्चता आगमग्रन्थेषु सुनिर्णीता। भागवतेऽपि तान्त्रिक मखस्य महत्ता स्वीकृतैव कृष्णार्चनविषये। अतस्तन्त्रस्योच्चता युगेऽस्मिन् स्वीकरणीयैव। अर्चनविधौ विस्तृतविधिविधानस्य सङ्कोच: गुरुपरम्परया ज्ञातव्य एव। एवं कृते साधक: सर्वं लभते नात्र संशय:। यत्र शास्त्रे अन्यपरम्पराया हीनत्वं प्रतिपादितं तत्तु न स्वीकरणीयम्। तस्या परम्पराया अपि शिवप्रोक्त्वात्। अधिकारिभेदाद् देशभेदाच् च साधनभेदाच्च तस्यापि शास्त्रप्रतिपादनत्वात् स्वीकारता एव। बहुमार्गाद् दर्शनान्तराणामनिन्दनमेव तान्त्रिकैरङ्गीकर्तव्यमिति सार: यथोक्तं पुष्पदन्ताचार्येण *शिवमहिम्न:स्तोत्रे*—

त्रयी सांख्यं योग: पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद: पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इति।।07।।

अत: वेदकर्मकाण्डवद् अन्यतान्त्रिककर्मकाण्डस्य स्वीकार्यता एव मान्यो मार्गो निर्णेतव्य:।

सहआचार्य:,
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालय:,
जयपुरम्।

वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में विश्ववन्द्य अभिनवशङ्कर श्रीकरपात्रस्वामी का अभिमत

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

वेद ज्ञान निधि हैं। वे हमारी शाश्वत धरोहर हैं। हमारे जीवन के नीति-रीति अपितु सम्पूर्ण मानविकी का यथार्थनिरूपण वेदों में प्राप्त होता है। परम्परा भी कहती है—**वेदोऽखिलोधर्ममूलम्।** सारे कर्म ज्ञान में ही प्रतिफलित होते हैं और ये सम्पूर्ण ज्ञान राशि हैं। अत: इनसे बढ़कर पवित्र और कुछ हो भी नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुखारविन्द से *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा भी है कि—**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** अर्थात् इस लोक में ज्ञान के जैसा पवित्र दूसरा और कुछ भी नहीं है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में ये आदि ज्ञान साधन मानकर पूजे जाते हैं। किन्तु खेद का विषय है कि वेद-विद्याध्ययन में प्रविष्ट होने वाले जिज्ञासुओं को इनके रचनाकाल और रचनाकार दोनों विषयों में निरन्तर भ्रम में ही पड़े रहने की विडम्बना अनिवार्य रूप से भोगनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में एक ओर हमारी आर्ष परम्परा है जो प्रत्येक सूत्र के ऋषियों का तो स्मरण करती है, पर उन्हें उनका कर्त्ता न मानकर उनका द्रष्टा मानती है। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:** यास्क ने अपने *निरुक्त* में कहा भी है और आगे सृष्टिक्रम का स्मरण करते हुए परम्परा कहती है कि—

नि:श्वसितमस्य वेदा: वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्ते महाप्रलय:।।

अर्थात् ये सारे वेद उस परमपुरुष परमात्मा के निःश्वास से उत्पन्न हुए। उसने जब आँखें खोली तो इन पञ्चमहाभूतों की सृष्टि हुई। जब परमात्मा मुस्काया तो चराचरात्मक जगत् का प्रतान फैल गया और जब वापस उसकी आङ्गिक चेष्टाएँ निद्रा के वशीभूत हुईं तो इस सारे जगत् की लीला का महाप्रलय हो गया। कहना न होगा कि इस परम्परा की रक्षा के पक्ष में पूरे पौर्वात्य आर्ष वेदवाङ्मयविचक्षण एक साथ सन्नद्ध खड़े मिलते हैं। चाहे सायण हों, चाहे महाभाग अभिनवशङ्करावतार वन्दनीयचरण श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराज हो सब इस अखण्ड वेदराशि को कथमपि पौरुषेय नहीं मानते। दूसरी ओर आधुनिक मत है जो सप्रयास वेदों का कालनिर्धारण करने के लिए कमर कसे हुए दिखाई पड़ता है। अपने मत के पोषण में उनकी अपनी युक्तियाँ और अपने तर्क हैं। मैक्समूलर, बेबर, कीथ, विन्तरनित्स से लेकर लोकमान्य बालगङ्गाधरतिलक प्रभृति अन्य अद्यतन मान्य वेदविद्या अध्येताओं का आदरणीय समूह, विभिन्न बाह्य एवं अन्त: साक्ष्यों के निकष पर युक्तिपूर्वक कसकर वेदविद्यावाङ्मय का कालनिर्धारण करने पर तत्पर दिखाई पड़ता है।

वेदविद्याध्ययन में नवप्रविष्ट विद्यार्थियों की सांसें इन दो मतवादों के दोहरे पाट में फँसकर अटक जाती हैं। वह नहीं समझ पाता कि इनमें सिद्धान्त कौन-सा है। ऊहापोह और संशय में अटक कर वे दोनों मतवादों का उल्लेख कर इस समस्या के समाधान से पल्ला झाड़कर अलग हो जाता है।

इस शोधपत्र के माध्यम से मैं एकान्त रूप से महाभाग परमपूजनीय श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराज कृत *वेदार्थपरिजात* के आधार पर उनके मूलग्रन्थ की पङ्क्तियों का उद्धरण करते हुए यह प्रतिपादित करने की चेष्टा कर रही हूँ कि वेद नित्य हैं या पौरुषेय हैं। वेद परमात्मश्वासभूत हैं अथवा ऋषि की रचना। प्रसङ्गत: यहाँ स्वामीजी महाराज के ग्रन्थ का उद्धरण देना समीचीन हैं। *वेदार्थपारिजात* के मङ्गलाचरण में स्वामीजी ने वेदों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उसके नित्यत्व और अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है–

अनादिनिधन: शब्दराशिर्वेदपदाभिध:।
सतां परम्पराप्राप्तो द्योतते विश्ववन्दित:।
आर्याणां बहुमानत्वादत्र कर्तृस्मृतिं विना।
नित्यत्वापौरुषयत्वे सन्तिष्ठेते ध्रुवात्मन:।
षडङ्गस्मृतिरत्नानामितिहासपुराणयो:।
दर्शन-प्रातिशाख्यानामुपयोगोऽर्थनिर्णये। — *(वेदार्थपारिजात, पृ. 1, श्लोक 4-6)*

वेदों का अपौरुषयेत्व सिद्ध करते हुए स्वामी जी कहते हैं—

यत्तु सामान्यतो दृष्टं वितथमुपलभ्य वाक्यत्वसाम्येन वेदस्यापि वैतथ्यं शङ्क्यते, तदज्ञानविजृम्भितम्, वाक्यत्वस्याप्रामाण्याप्रयोजकत्वात्। पौरुषेयवाक्यस्य तु पुरुषाश्रितदोषादिभिरेवाप्रामाण्यम्, न वाक्यत्वप्रयुक्तम्। वेदे तु संशयविपर्ययाजनकत्वात् बोधकत्वात् बाधकाभावाच्चानधिगतासन्दिग्धाधितार्थविषयज्ञानजनकत्व-दर्शनेन अप्रामाण्यकारकणाभावात् स्वाभाविकं प्रामाण्यमेव। — *(वेदार्थपारिजात, पृ. 83)*

सामान्यत: वाक्यों के मिथ्यात्व को देखकर सामान्य न्याय से वेद वाक्य में भी मिथ्यात्व की शङ्का करना तो अपने अज्ञान को ही प्रकट करना है, क्योंकि वाक्यत्व हेतु अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं। पौरुषेय वाक्यों का अप्रामाण्य पुरुषाश्रित दोषों के कारण होता है उसमें वाक्यत्व की कारणता नहीं बनती। वेद वाक्यों में तो संशयविपर्यय आदि की जनकता अविद्यमान हैं, ये किसी-न-किसी अर्थ के बोधक हैं, इनका कोई बाधक ज्ञान नहीं है और ये अनधिगत, असन्दिग्ध, अबाधित अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अत: अप्रामाण्य के प्रवर्तक किसी भी कारण की यहाँ प्रवृत्ति न होने के कारण इनका स्वाभाविक प्रामाण्य माना जाता है।

नन्ववश्यं वाक्यानि केनचित्प्रणीतानि, तथैव शब्दानामर्थै: सम्बन्धोऽपि सकर्तृक एवाभ्युपेय इति चेन्न, कर्तुरनुपलम्भात्। यदि स्यात् कर्त्ता, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभ्येत। यद्दर्शनयोग्यमुपलम्भसामग्रीसत्त्वेऽपि नोपलभ्यते, तन्नास्त्येवेति मन्तव्यम्, यथा—शशशृङ्गादिकम्। न च चिरवृत्तत्वात् कर्त्ता नोपलभ्यते, नासत्त्वादिति वाच्यम्, तथात्वेऽपि तत्स्मरणस्यावश्यकत्वात्। न हि चिरवृत्तोऽपि न स्मर्यते। तथा च वेदकर्तु: स्मरणाभावान्नास्त्येव कश्चिद्वेदकर्तेति प्रतीयते। *(वेदार्थपारिजात, पृ. 84)*

वाक्य किसी–न–किसी के बनाये हुए ही हो सकते हैं। इसी तरह से शब्दों का अर्थो के साथ सम्बन्ध भी किसी के द्वारा स्थापित ही मानना पड़ेगा। महाराजश्री कहते हैं—यह कथन भी इसलिए गलत है कि वेद में कोई कर्त्ता उपलब्ध नहीं है। यदि कोई कर्त्ता होता तो उसकी प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों में से किसी–न–किसी से उपलब्धि होती जिसकी किसी–न–किसी प्रमाण से उपलब्धि हो सकती है, उसकी यदि पूरी सामग्री की विद्यमानता में भी उपलबिध नहीं होती तो समझ लेना चाहिए कि उस वस्तु की सत्ता नहीं है, जैसाकि 'खरगोश की सींग।' बहुत समय बीत जाने के कारण वेद का कोई कर्त्ता स्मृति में नहीं रह गया है। इसका मतलब यह नहीं कि उसका कोई रचयिता नहीं है। स्वामीजी कहते हैं कि—आपकी यह उक्ति उचित नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसकी स्मृति अवश्य बनी रहती। अधिक समय बीत गया इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि उसकी स्मृति भी नहीं रही होगी। अत: यह मानना उचित है कि वेद के कर्त्ता के रूप में किसी के नाम की स्मृति विद्यमान नहीं है। अत: वेद का कोई है ही नहीं।

> **स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात् कर्त्रभाव एवाध्यवसीयते। ब्रह्मा स्वयम्भू** *(तैत्तिरीय आरण्यकम्,* 2.9) **'वाचा विरूपनित्यया '** (*ऋक्संहिता,* 8.75.6) **'अनादिनिधना नित्य वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'** (*महाभारते* शान्तिपर्व, 232.35) **'अत एव च नित्यत्वम्'** (*ब्रह्मसूत्रम्* 1.3.29) **इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुसारेण वेदानां नित्यत्वावगमाच्च कर्त्रभावोऽध्यवसीयते। अत एव 'तस्मात् यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे' 'अग्नेऋग्वेद' इत्यादिवचनानां तु सम्प्रदायप्रवर्तकबोधपरत्वमेव, न तु कर्तृबोधकत्वम्। 'यो वै ब्रह्माणां विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुत्यनुरोधात्। चतुर्मुखस्य विधातापीश्वरो न वेदान् विदधाति, किन्तु विद्यमानानेव ब्रह्मणो हृदि प्रहिणोति।** (*वेदार्थपारिजात,* पृ. 86)

आगे उन्होंने कहा है—कर्त्ता की स्मृति अवश्य रहनी चाहिए किन्तु है नहीं, इससे यही निश्चय करना उचित है कि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है। **'ब्रह्मास्वयम्भू'** इत्यादि श्रुति, स्मृति और सूत्रों के प्रमाण पर वेदों की नित्यता अवगत होती है, इसी से निश्चित होता है कि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है। इसलिए **'उस यज्ञ से ऋक्, साम की उत्पत्ति हुई' अग्नि से ऋग्वेद हुआ,** इस तरह के वचन केवल सम्प्रदाय की प्रवृत्ति का बोध कराते हैं, इसमें वेदों के कर्त्ता का निर्देश नहीं है। जो पहले ब्रह्मा की रचना करता है और बाद में उसको वेद का उपदेश देता है। इस श्रुति के अनुसार चतुर्मुख ब्रह्मा के विधाता ईश्वर भी वेद की रचना नहीं करते, किन्तु विद्यमान वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में भेजते हैं।

महाराजश्री ने अपने इस ग्रन्थ में वेदों के प्रति पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुगामी भारतीय मनीषियों के बारे में लिखा है।

पाश्चात्याश्च तथा तेषां दीक्षया दीक्षिता: पुन:।
तांस्तान्दुस्तर्कहतकान् नैकान् प्रादुरभावयन्।।
एतैस्सर्वैश्च सम्भूय वेदार्थो मलिनीकृत:।
वेदमार्गावसादाय यत्नस्तै: क्रियतेऽधुना।। — *वेदार्थपारिजात, पृ. 2 श्लोक 21–22*

अर्थात् आज के आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् और इनके मत का अनुसरण करने वाले भारतीय पण्डित भी वेदार्थ के सम्बन्ध में अनेक कुतर्कों की उद्भावना करने लगे हैं। इन सबने मिलकर वेदों के अर्थ को दूषित कर दिया है। वस्तुत: ये लोग शाश्वत, पारम्परिक वैदिक मार्ग को नष्ट करने पर तुले हुए प्रतीत होते हैं।

स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते हुए स्वामीजी ने लिखा है कि—अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषयक प्रकरण में दयानन्द ने **'तस्मात् यज्ञात्'** इत्यादि मन्त्र का अर्थ करते हुए कहा है कि—सत् जिसका कभी नाश नहीं होता चित् जो सदा ज्ञान स्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों के उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋच:) ऋग्वेद, (यजु:) ऋग्वेद, (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं (ऋग्भाष्यभूमिका, पृ. 11-12)

स्वामी जी कहते हैं कि यह बात यहाँ विचारणीय है कि—ऋच:, सामानि और यजु: ये पद मन्त्रवाचक ही है, ऋग्वेदादि के बोधक नहीं क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। मन्त्र ही वेद नहीं है क्योंकि मन्त्रों को वेद बतलाने वाला कोई मन्त्र नहीं है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से भी उनका वेदत्व सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि आप उनको स्वत: प्रमाण नहीं मानते। (वेदार्थपारिजात, पृ. 484) इस प्रकार स्वामी दयानन्दकृत अर्थ, सर्वहुत:, छन्दांसि, जज्ञिरे, अजायत, तस्मात् आदि पदों के अर्थ का खण्डन करते हुए महाराजश्री ने वेदों की उत्पत्ति के विषय में शतपथब्राह्मण की श्रुति **तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद: सूर्यात्सामवेद:** (11,5,2,3, पृ. 18), का उद्धरण दिया है। इस श्रुति का सायणकृत अर्थ का भी उल्लेख किया है। *छान्दोग्योपनिषद्* में भी यही अर्थ स्पष्ट किया गया है।

स्वामी दयानन्द जी ने वेदों के काल के विषय में लिखा है कि 'एकवृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छिहत्तर अर्थात् 1960852976 वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये' (पृ. 25)। इसके प्रमाण में ब्रह्मा के दिन-रात और एक युग का प्रमाण मनुस्मृति के एक श्लोक के आधार पर किया गया है। इन सब प्रमाणों का खण्डन करते हुए महाराजश्री ने लिखा है—

> **पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचु: 'वाचा विरूपनित्यया'** (ऋ. 8.7.5-6) **इति वेदानां नित्यत्वश्रवणाद् वेदानामुत्पत्तिकालस्यैवाभावात्।**

वेदों को नित्य माना गया है। अत: उनका कोई उत्पत्तिकाल नहीं है। 'ऋचाएँ और साम उत्पन्न हुए' ऐसे वचन केवल सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं। आपके अभिमत वेदों में कहीं भी वेद का समय नहीं बताया गया है। वेद से सृष्टि के आदि में उसकी उत्पत्ति की भी सिद्धि नहीं हो सकती। एक ही क्षण में महत्, अहंकार आदि प्रकृति-विकृतियाँ और षोडश विकार नहीं उत्पन्न हो जाते। महदादि की उत्पत्ति के पहले अग्नि आदि कैसे आ जायेंगे। महदादि की उत्पत्ति के दिन ही उनकी उत्पत्ति हुई, निराधार होने से इस बात का समर्थन नहीं किया जा सकता। (वेदार्थपारिजात, पृ. 510)

इसी प्रकार वेद के नित्यत्व पर दिये गये प्रमाणों का भी खण्डन महाराजश्री ने शास्त्रसम्मत प्रमाणों के द्वारा किया है। स्वामी दयानन्द जी के मत का खण्डन करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि आपने जो यह कहा कि–

> **यद्यपि च 'ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति। तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् (पृ. 31) इत्युक्तम् तदतीव तुच्छम्। ईश्वरसामर्थ्यस्य नित्यत्वेऽपि तत्कार्यस्य वेदस्य नित्यत्वायोगात् ... नित्यत्वमेव वेदानामङ्गीकुर्वन्ति। (वेदार्थपारिजात, पृ. 511)**

वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वत: नित्यस्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है (पृ. 31) ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर की सामर्थ्य के नित्य होने पर भी यदि वेद उसका कार्य है, तो वह नित्य नहीं हो सकता, ऐसा मानने पर तो सारे जगत् के ही ईश्वर का कार्य होने से नित्यता की आपत्ति होगी। यदि यह माना जाय कि वेद ईश्वर की सामर्थ्य से पैदा होते हैं इसलिए नित्य है, तो यह बात तो सारे जगत् में लागू है। आपके वाक्य में '**सकाशात्**' और '**स्वत:**' ये दो पद निरर्थक हैं, क्योंकि वेदों की ईश्वर से उत्पत्ति होती है। अत: वे नित्य हैं इतना कहने से ही अभीष्ट अर्थ निकल जाता है। एक की नित्यता से दूसरा नित्य नहीं हो सकता। इससे तो अतिप्रसङ्गदोष आएगा, अर्थात् जो नित्य नहीं है, वह भी नित्य होने लगेगा। नित्य प्रकृति के कार्य महदादि अनित्य देखे जाते हैं। जिनकी उत्पत्ति मानी जाती है, उसको नित्य कहना तो गलत ही है। जो उत्पत्तिमान् है, वह निश्चय ही अनित्य होता है। मीमांसक वेद की उत्पत्ति नहीं मानते। वेदों की उत्पत्ति बताने वाले मन्त्र, अर्थवाद आदि का प्रयोजन दूसरा ही है उसका अपने स्वार्थ में तात्पर्य नहीं माना जाता। उत्तरमीमांसक (वेदान्ती) सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को ही उत्पत्ति मानते हैं। ये लोग सभी उच्चारण अपने सजातीय पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखते हैं, अत: इस पद्धति से वेदों की नित्यता को ही मानते हैं।

मैक्समूलर के मत का खण्डन करते हुए स्वामीजी ने कहा है—डॉ. मैक्समूलर साहब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ। वेदों के प्राचीन होने का एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने के तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इसमें एक तो हिरण्य शब्द का प्रामाण्य दिया कि छन्दोभाग से मन्त्र भाग दो वर्ष पीछे बना है और दूसरा यह कि वेदों में दो भाग हैं—एक छन्द दूसरा मन्त्र। उसमें छन्दोभाग सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम नहीं पड़ता कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हुई उसमें कथन इस प्रकार है कि—जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में उन्तीस सौ वर्ष हुए है। इसमें '**अग्नि: पूर्वेभि:**' इस मन्त्र का प्रामाण्य दिया गया है। (वेदार्थ पारिजात, पृ. 676)

इसका खण्डन करते हुए करपात्रस्वामीजी कहते हैं कि उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि इन्होंने हिरण्यगर्भ और '**अग्नि: पूर्वेभि:**' दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। मालूम होता है कि यह '**हिरण्यगर्भ**' शब्द नवीन जान पड़ा होगा, इस विचार से हिरण्य नाम है सोने का। वह सृष्टि के बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है जो पृथिवी से निकाला गया है। इसलिए यह बात ठीक नहीं हो सकती। इसका प्रमाण देते हुए महाराजश्री ने कहा है—

> **अत्र प्रमाणनि–ज्योतिर्वै हिरण्यम् (*शतपथ* 10–4.1.6) 'ज्योतिरेषो अमृतं हिरण्यम्' (*शतपथ* 10.4.1.6) 'केशो–केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्राकशनाद्वा। केशोदं ज्योतिरुच्यते' (*निरुक्त* 12.25), 'यशो वै हिरण्यम्' (*एतरेय ब्राह्मण*) 'किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योति:' (*शतपथ* 14.7.1.6), 'ज्योतिरिन्द्राग्नी' (*शतपथब्राह्मणम्* 10.4.1.6)। एषामर्थ:—ज्योतिर्विज्ञानं गर्भ: स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भ:। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिर्विद्युदित्यादय:। केशा: प्रकाशका लोकाश्च। यश: सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च। ज्योतिरात्मा जीवश्च। ज्योतिरिन्द्र: सूर्योऽग्निश्च। एतत्सर्व हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भ: परमेश्वर:। (*वेदार्थपारिजात*, पृ. 676)**

इन श्रुतियों के प्रमाण पर इस शब्द का अर्थ है कि—हिरण्य नाम है ज्योति का, ज्योति कहते हैं विज्ञान को, वह जिसके गर्भ में अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है, प्रकाश स्वरूप सूर्यादि जिसके गर्भ में हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ में अर्थात् सामर्थ्य में है तथा यश: सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में हैं। इसी तरह ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

इस प्रकार अनेक विद्वानों के मतों का खण्डन करते हुए उन्होंने अपने मत का उपस्थापन किया है। इन सभी प्रकरणों का उल्लेख एक छोटे-से लेख के माध्यम से प्रस्तुत कर पाना असम्भव है। आपका ग्रन्थ इतना विशाल एवं महनीय है कि इस विषय में मुझ जैसे अकिञ्चन का प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है।

प्रस्तुत शोधपत्र में अभिव्यक्त विचारों का सम्पूर्ण आधार महामहनीय ग्रन्थ **वेदार्थपारिजात** है जिसका रचनाकाल स्वातन्त्र्योत्तर है। इसके वृत्तिकार महामनीषी प्रतिभावतार, अभिनवशङ्कर, यतिचक्रचूड़ामणि, परम युक्तिप्रवण पूज्यपाद स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती करपात्रस्वामीजी महाराज हैं। इन महाप्राण का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया रविवार सन् 1906 ई. को जनपद प्रतापगढ़ के ग्राम भटनी निवासी परमधर्मपरायण ब्राह्मण श्री रामनिधि ओझा जी के तृतीय पुत्र के रूप में हुआ। इनकी माता श्रीमती शिवरानी देवी थीं। आरम्भ से इनकी वृत्ति संसार के प्रति उदासीन थी फलत: घर गृहस्थी की बेड़ियों में बँधना इनकी रुचि के प्रतिकूल था। इनकी इस साधुवृत्ति को देखकर इनके गुरुजनों ने शीघ्र ही इनका विवाह कर गृहस्थी के बन्धनों में बाँधकर इन्हें अटका कर घर रखना चाहा। गुरुजन व परिजनों के अनुरोध की मर्यादा रक्षा में गृहस्थी में बँधकर इन्हें कथं कथमपि एकमात्र कन्या सन्तति की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे पूर्णत: बन्धनमुक्त होकर गृहत्यागकर यायावर हो गये। भगवती की कृपा से मध्यप्रदेश की ओर चलते हुए इन्हें स्वामी ब्रह्मानन्दजी का आश्रय मिला। उन्हीं के निर्देश पर ये बुलन्दशहर के नरवर के साङ्गवेद विद्यालय में विद्याध्ययन हेतु प्रविष्ट हुए। जहाँ अल्पकाल में इन्होंने वेदान्त और व्याकरण का पूर्णज्ञान अर्जित कर लिया।

स्वभावत: परमनि:स्पृह स्वामी जी कोई परिग्रह करने में सर्वथा उदासीन थे। मिट्टी की हांड़ी में पकाया हुआ भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन हथेली पर रखकर खाने का नियम बना लेने के कारण इनका, करपात्रस्वामी ऐसा नामकरण प्रसिद्ध हुआ। पुन: महाराजश्री हिमालय की तलहटी में स्थित ऋषिकेश के कोयलघाटी में स्थित एक वटवृक्ष के कोटर में रहकर कठोर तपश्चर्या में रत हो गये। इनके काशी पहुँचकर प्रकाश में जाने

की घटना भी बहुत अद्‍भुत है। महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी उस समय की परिस्थितियों के अनुसार स्त्री और शूद्र को प्रणव की दीक्षा देने के पक्ष में थे और इस हेतु वे शास्त्र से संगत उदाहरण भी प्रस्तुत करते थे। इस प्रश्न पर और व्यापक विमर्श करने की दृष्टि से उन्होंने ऋषिकेश में एक शास्त्रार्थ सभा की घोषणा की। मञ्च लगा और विशिष्ट लोगों की उपस्थिति में वे अपने पक्ष के समर्थन में शास्त्रीय युक्तियाँ प्रस्तुत करने लगे। करपात्रस्वामीमहाराज को शास्त्र के विपरीत कोई बात सह्य नहीं थी। मञ्च के समक्ष उपस्थित होकर उन्होंने मालवीयजी की युक्तियों को दूर से उत्तर देना आरम्भ किया जिसे देख और सुनकर कुछ श्रोता वहाँ भी खड़े-खड़े कौतूहलवश उपस्थित हो गये। मालवीयजी ने इसे देख सुनकर स्वयं वहाँ जाने का निर्णय किया। वहाँ पर पहुँचकर विनम्रतापूर्वक वे इन्हें अपने साथ मञ्च पर ले आये। मालवीयजी एवं स्वामीजी के बीच इस प्रश्न पर शास्त्रार्थ होने लगा, जो तीन दिनों तक चला। उसकी मध्यस्थता सेठ जी श्री जयदयाल गोयन्दका तथा श्री गौरीशङ्कर गौयन्दकाजी ने की। तीन दिनों तक शास्त्रार्थ होने के बाद मध्यस्थों ने महाराजश्री का पक्ष ही शास्त्रसम्मत माना। तीस वर्ष की आयु में उनका वैदुष्य इस प्रकार जनताजनार्दन के समक्ष पहली बार प्रकाश में आया। बाद में मालवीय जी के अत्यन्त आग्रह पर इन्होंने काशी आना स्वीकार किया।

इस प्रकार महाराजश्री के जीवन क्रम को जनता जनार्दन से जोड़कर प्रकाश में लाने की क्रिया का सूत्रधार भी हम मालवीयजी महाराज को ही पाते हैं। काशी में रहते हुए अपने महाप्रयाण पर्यन्त उन्होंने जो सारस्वत अवदान समाज को दिये उससे सारे लोग सुपरिचित हैं। भारतवर्ष में लुप्तप्राय श्रौतयज्ञपरम्परा का आरम्भ महाराजश्री के द्वारा ही हुआ। श्रीविद्या की गुह्य साधना भी इनके द्वारा सुयोग्य पात्रों को प्राप्त हुई और जाने कितनों का जीवन धन्य हुआ। मैं तो उनकी कृपा से उऋण हो ही नहीं सकती। उनके अथवा उनकी कृति के विषय में कुछ कह पाना मुझ जैसे अकिञ्चन के बूते के बाहर की बात है। अत: सौन्दर्य लहरी के 100वें (शततम) पद के भावों में मैं अपना भी स्वर मिलाते हुए कहना चाहती हूँ—

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधि:।
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना।।
स्वकीयैरम्भोभि: सलिलनिधिसौहित्यकरणं,
त्वदीयाभिर्वाग्भि: तव परमवाचां स्तुतिरियम्।।

इस श्लोक के चतुर्थ पङ्क्ति में जननि के स्थान महाराजश्री के लिए परम सम्बोधन लिखने की धृष्टता के लिए क्षमा चाहते हुए मैं अपने शब्दों की यह अञ्जलि महामनस्वी स्वामी जी के चरणों में अर्पित करती हुई लेख की इन पङ्क्तियों का समापन करने की अनुमति चाहती हूँ—**त्वदीयं वस्तुगोविन्द तुम्यमेव समर्पये**। हे महामनीषिन्! मेरी यह अकिञ्चन अभ्यर्थना स्वीकार करें।

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कालेज, वाराणसी।

रामचरितमानस में शक्तितत्त्व

डॉ. सुषमा शुक्ला

उद्भवस्थित संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।[1]

श्रीस्वायम्भुव मनु की तपस्या से नैमिषारण्य में परमप्रभु परमेश्वर के प्रादुर्भाव के प्रसङ्ग में श्री सीता-तत्त्व का निरूपण इस प्रकार है—

बाम भाग शोभति अनुकूला। आदि शक्ति सब निधि जगमूला।।
जासु अंश उपजहिं गुनखानी। अगनित उमा, रमा, ब्रह्मानी।।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम वाम दिशि सीता सोई।।[2]

उपर्युक्त चौपाईयों में महाशक्तिस्वरूपा श्रीसीता-तत्त्व का स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम चौपाई के आरम्भ में 'वामभाग' शब्द लिखकर तथा तीसरी चौपाई के अन्तिम चरण में 'बामदिशि' शब्द का ही सम्पुट लगाकर जो ऐश्वर्य वर्णन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि श्रीसीताजी श्रीपरमप्रभु से सदैव अभिन्नस्वरूपा हैं।

बालकाण्ड के अन्तर्गत सती-मोह-प्रसङ्ग में जब सीताजी श्रीरामजी की परीक्षा ले लज्जित होकर शिवजी के समीप लौटी आ रही थीं, उस समय लीलास्वरूप में यद्यपि श्रीसीताजी का रावण द्वारा हरण तथा अनलनिवास के द्वारा अन्तर्धान होने से स्पष्टत: श्रीरामचन्द्रजी के साथ वियोग दीखता था तथापि मार्ग में अखण्ड अभिन्न श्रीसीताजी का दर्शन श्रीरामजी के साथ-साथ सती को होता जा रहा था—

सतीं दीख कौतुक मग जाता। जागें रामु सहित श्रीभ्राता।।
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर वेषा।।
देखे शिव विधि विष्णु अनेका। अमित प्रभाव एकतें एका।।
सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं-जेहिं वेष अजादि सुर तेहि-तेहि तन अनुरूप।।
देखे जहँ-तहँ रघुपति जेते। शक्तिन सहित सकल सुर तेते।।
पूजहिं प्रभुहि देव बहु वेषा। रामरूप दूसर नहि देखा।।
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।।[3]

यहाँ भी वही महत्त्व दिखलायी देता है। जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी अनेकों शिव, विधि, विष्णु से सेवित हो रहे हैं, उसी प्रकार श्रीसीताजी भी अमित सती, विधात्री, इन्दिरा आदि के द्वारा सेवित हो रही हैं।

वन-गमन के प्रसङ्ग में जब श्रीगङ्गाजी के तट शृङ्गवेरपुर रथ पहुँचाकर सुमन्त ने श्रीरामचन्द्रजी से महाराज दशरथजी का सन्देशा कहा——

जेहि विधि अवध आव फिरि सीया। सोई रघुबरहि तुमहि करनीया।।
पितु-सँदेश सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना।।[4]

और तब श्रीमुख से उस शिक्षा को सुनकर श्रीसीताजी ने स्वयं अपनी नित्य-एकता तथा अभिन्नता के स्वरूप को इस प्रकार उपमासहित निवेदन किया——

प्रभु करूनामय परमबिबेकी। तन तजि रहित छाँह किमि छेकी।।
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंद्र तजि जाई।।[5]

यहाँ पहले 'तन' और 'छाया' की उपमा से श्रीचक्रवर्ती दशरथजी महाराज के सन्देश की ओर लक्ष्य कर वियोग को असम्भव बतलाया गया है क्योंकि सन्देश में आया है——'जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई' तो 'फेरिय प्रभु मिथिलेश किसोरी।' श्रीसीताजी इसी को असम्भव बतलाने के लिए कहती हैं कि कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, शरीर के जाने पर शरीर की छाया को रोका नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में रोकने वाले श्रीदशरथजी तथा श्रीसुमन्त जी को ही लक्ष्य करके कही गयी है। दूसरी दो उपमाएँ श्रीरघुनाथजी के मुख से निकली हुई, 'फिरहु तो सबकर मिटै खँभारु' इस आज्ञा के पालन की असमर्थता में दी गयी हैं। श्रीसीताजी का भावार्थ यह है कि 'मेरी क्या सामर्थ्य है जो श्रीकृपालु से एक क्षण के लिए भी मैं बिलग हो सकूँ। प्रभा सूर्य से अलग होकर क्या कहीं ठिकाना पा सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि सूर्य के ओट होते ही उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।' तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजी से अलग होकर श्रीसीताजी जीवित नहीं रह सकतीं। जहाँ सूर्य रहेंगे वहाँ प्रभा अवश्य रहेगी, यह निश्चय है। इसी प्रकार जहाँ श्रीराम हैं वहीं सीता रहेंगी। यही भाव *श्रीवाल्मीकीय रामायण* में रावण के प्रति श्रीसीताजी के इस कथन में आता है——

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।[6]

इसी प्रकार चन्द्रमा और उनकी चाँदनी की दूसरी उपमा भी इसी भाव को पुष्ट करते हुए श्रीरामचन्द्रजी के साथ श्रीसीताजी के अहर्निश के वियोग को असम्भव सिद्ध कर रही है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य से प्रभा दिन में तथा रात्रि में चन्द्र से चाँदनी अलग नहीं हो सकती उसी प्रकार श्रीसीताजी दिवस-रात्रि कभी भी श्रीरामजी से अलग नहीं हो सकती।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।[7]

अब इस विलक्षण सम्पुट के भीतर जो ऐश्वर्य सूचित किया गया है, उस पर भी किञ्चित् विचार करना चाहिए।

'बाम भाग शोभति अनुकूला'—यह चरण भी ऐश्वर्य सम्बन्धी ही है क्योंकि श्रीरामजी तथा श्रीसीताजी का जो अवताररूप माधुर्य-विग्रह स्वायम्भुव मनु को दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो लीला-वपु ही सिद्ध है। इसका प्रमाण मनुजी का यह अभिलाष और विश्वास ही है—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहहीं। भगत-हेतु लीला-तनु गहइ।।
जो यह वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमारि पूजहि अभिलाषा।।[8]

इसीलिए उस प्रकट विग्रह-लीलावपु के लिए यह अन्तिम चरण दिया गया है—

राम बाम दिसि सीता सोई।।

परन्तु यह सोई कौन है? इसी को लक्ष्य करके ऊपर के पाँचों चरणों में ऐश्वर्यस्वरूप का वर्णन कर दोनों का ऐक्य सिद्ध किया गया है। अत: प्रथम चरण उन्हीं आदिशक्ति, जगमूला, छबिकी खानि श्रीमहालक्ष्मीजी के लिए है जो श्रीबैकुण्ठ में साक्षात् श्रीमन्नारायण की अनुकूला (अनुकूलस्वरूपा) होकर नित्य वामभाग में शोभित रहा करती है तथा जिस प्रकार श्रीमन्नारायण से (परस्वरूप से) अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु अंशरूप में उपजते हैं, जैसे—

संभु बिरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।।[9]

उसी प्रकार उन आदि शक्ति महालक्ष्मीजी के अंश से अगणित गुण की खानि उमा, रमा और ब्रह्माणी उपजती रहती हैं। अतएव जिनके भ्रुकुटि-विलासमात्र से जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार-शक्तियाँ प्रकट होती हैं वही सर्वोपरि महाशक्ति श्रीलक्ष्मीजी श्रीसीतारूप में श्रीरामजी के वामदिशि में श्रीस्वायम्भुव मनु को दर्शन दे रही हैं। यह बात आगे चलकर स्वयं श्रीरामजी ने अपने श्रीमुख से श्रीमनुशतरूपा के प्रति कही है। जैसे–

आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहिं मोरि यह माया।।[10]

महर्षि वाल्मीकि जी के मिलन-समय के वचन भी इसके प्रमाण की सूचना देते हैं—

श्रुति-सेतु-पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाय कृपा निधान की।।[11]

श्रीआलवन्दारस्तोत्र में भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले वाक्य आते हैं कि जगत् का ईशित्व श्रीजानकीजी को ही है, यथा—

आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम्।
अशेषजगदीशित्रीं वन्दे वरदवल्लभाम्।।

यहाँ जिस प्रकार आकारत्रय-अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व तथा अनन्यशरणत्व का लक्ष्य है, इसी प्रकार उपर्युक्त प्रथम चौपाई में तीन ही शब्द 'आदि-शक्ति', 'छविनिधि' और 'जगन्मूला' का सङ्केत किया गया है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'आदिशक्ति' में ही अनन्यशेषत्व सम्भव है। 'आदि-शक्ति' भगवत् शेष न होकर दूसरा ऐसा कौन अनादि है जिसकी शेष होगी।

छबिनिधि में ही अनन्यभोग्यत्व सम्भव है, क्योंकि छबि की निधि श्रीजी भगवत्-भोग्य न होकर और किसकी भोग्या हो सकती हैं। यही सुन्दरकाण्ड में कहा है—

सुन दशमुख खद्योत प्रकाशा। कबहुँ कि नलिनी करै विकाशा।।[12]

तथा सर्वजगत् की मूलस्वरूपा में ही अनन्यशरणत्व सम्भव है जो स्वयं जगत् की मूल हैं वह भगवत् को छोड़कर अन्य किसकी शरण ले सकती हैं?

जिस प्रकार इस मनु प्रसङ्ग में श्रीस्वायम्भुव मनु की अभिलाषा केवल परमप्रभु के दर्शनमात्र की पायी जाती है, जैसे—

उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिय नयन परमप्रभु सोई।।
अगुन, अखंड, अनंत, अनादी। जेहि चिंतहि परमारथवादी।।
नेति-नेति जेहि वेद निरुपा। निजानंद, निरुपाधि, अनूपा।।
संभु, बिरंचि, विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।।[13]

उसके अनुसार तो ब्रह्म को केवल एक विग्रह-रामरूप में प्रकट होकर दर्शन देना था। तब श्रीसीता और श्रीराम के दो रूपों में श्रीभगवान् क्यों प्रकट हुए? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि परमप्रभु के जिस स्वरूप का दर्शन मनुजी करना चाहते थे वह शक्तिरहित न होकर नित्यशक्तिसंयुक्त ही है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त सर्व विशेषणों से विशिष्ट परब्रह्म नित्य द्विधाविग्रह सशक्ति ब्रह्म ही है, शक्तिरहित ब्रह्म नहीं। इसीसे 'वासुदेव' और 'हरि' शब्द के वाच्यार्थ में परमप्रभु के श्रीलक्ष्मीनारायण उभय दिव्य विग्रह सम्मिलित हैं।

द्वादश अक्षर मन्त्रवर, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव-पद-पंकरुह, दंपति-मन अति लाग।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अहार, मूल-फल त्यागे।।[14]

इसी कारण वह परमप्रभु अपने पूर्ण स्वरूप से अर्थात् शक्तिसंयुक्त लीलातनु (अवतारस्वरूप) श्रीराम और श्रीसीता के रूप में प्रकट हुए हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है—

नारद-बचन सत्य सब करिहौं। परा शक्ति समेत अवतरिहौं।।

इसलिए यह अकाट्य और स्पष्ट सिद्धान्त है कि ब्रह्म से शक्ति भिन्न नहीं है—'देखियत भिन्न न भिन्न।' अतएव जिस प्रकार साक्षात् श्रीमन्नारायण ने श्रीरामस्वरूप में अवतार लेकर भूभार हरने तथा धर्मस्थापन करने के साथ-साथ अपनी मर्यादा की सीमा दिखलाकर पुरुषों के लिए लोक-परलोक का मार्ग प्रशस्त कर दिया है, उसी प्रकार साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी ने श्रीसीतारूप में प्रकट होकर भूभार निवारण आदि कार्यों के साथ महान् नारी धर्म की मर्यादा प्रदर्शित कर स्त्रियों के लिए लोक-परलोक का सुन्दर मार्ग दिखला दिया है। मानव-जगत् के सम्पूर्ण नर-नारियों के लिए श्रीसीता-रामजी इस प्रकार आदर्श बने हैं और भक्तों के लिए तो श्रीयुगल सरकार ने अपना नाम और यश प्रदान कर कुछ अप्राप्य ही नहीं रहने दिया।

सन्दर्भ

1. बालकाण्ड, प्रथम सोपान, 5
2. बालकाण्ड, दोहा 147 के पश्चात् चौपाई संख्या 1-4
3. बालकाण्ड, दोहा 53 के पश्चात् चौपाई संख्या 2-4, दोहा 54, चौपाई 1-2
4. अयोध्याकाण्ड, दोहा 95 के पश्चात् चौपाई 4, दोहा 96 चौपाई 2
5. अयोध्याकाण्ड, दोहा 96 के पश्चात् चौपाई 3
6. *वाल्मिकीरामायण*, 5/21/16
7. बालकाण्ड, दोहा-18
8. बालकाण्ड, दोहा 143 की अन्तिम चौपाई-4
9. बालकाण्ड, दोहा 143 की चौपाई-3
10. बालकाण्ड, दोहा 151, चौपाई 2
11. अयोध्याकाण्ड, दोहा 125 का अन्तिम छन्द।
12. सुन्दरकाण्ड, दोहा 5 की अन्तिम चौपाई।
13. बालकाण्ड, दोहा 143 के पश्चात् चौपाई 2-3
14. बालकाण्ड, दोहा 143 तत्पश्चात् की चौपाई।

❑

दुर्लभ कृति

त्रिपुरारहस्योक्ता श्रीविद्यागीता

डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा

त्रिपुरा रहस्य के ज्ञानकाण्ड का बीसवाँ अध्याय श्रीविद्यागीता के नाम प्रोक्त है। श्रीदत्तात्रेय जी ने परशुराम जी को उपदेश देते हुए इसे शाक्तसिद्धान्त के साररूप निदर्शन के रूप में समुपस्थित किया है। वह ज्ञानी कौन है जिसके ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ माना जाये—ऋषियों के इस विवाद के सही निदान में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश भी असमर्थ हो गये। समाधिनिष्ठ ज्ञान, मीमांसक, भक्ति या कर्मनिष्ठ, सद्व्यवहारकर्ता, बहिर्मुख पुरुष कौन-सा सर्वश्रेष्ठ है? इस प्रश्न के समाधान में विवादकर्त्ता ऋषियों के मन में श्रद्धाहीनता को देखकर ज्ञान के अधिष्ठाता देव भगवान् शङ्कर ने कहा कि इसका उत्तर तो मैं भी सुस्पष्ट रूप से नहीं जानता हूँ? भगवती श्रीविद्या का ध्यान करे तो वही इसका उत्तर दे सकेंगी। तब भगवती त्रिपुरा ने इस गीता के माध्यम से सर्वोच्च ज्ञान के स्वरूप को प्रतिपादित किया है। ऋषियों की जिज्ञासा देवी के उत्कृष्ट स्वरूप, विभूति या ऐश्वर्य तथा सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के विषय में थी। इसके साथ ही इस ज्ञान का फल, इसको जानने का साधन, साधक, सिद्ध, सिद्धि की चरमसीमा तथा श्रेष्ठ सिद्ध को भी जानना चाहते थे। इन सबका उत्तर इस गीता में सार रूप में प्रस्तुत हुआ। सुधासागर के मणिद्वीप पर कदम्ब वन में चिन्तामणि के द्वारा निर्मित मन्दिर में पञ्च ब्रह्म मय सिंहासन पर कामेश्वर कामेश्वरी रूप में भगवती त्रिपुर सुन्दरी श्रीविद्या विद्यमान है। यही उत्कृष्ट अपर रूप है। पर रूप में सदाशिव से समस्त पूज्य जीवों में इनका पर रूप है परन्तु अज्ञान से भ्रमित लोग इसे पहचान नहीं सकते हैं। असम्भव को सम्भव करने वाला इनका ऐश्वर्य है। द्वैत पर ज्ञान है अद्वैत अपर ज्ञान है। अद्वय ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट श्रीविद्या है—

मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम्।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम्।। — *श्रीविद्यागीता*, 20.54

अत: स्वविमर्श या आत्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान सिद्ध है। इसके द्वारा अज्ञान शून्य ज्ञान उदित होता है तथा भयशून्य मोक्ष की उपलब्धि होती है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, यह संसार विलीन हो जाता है। संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता की आवश्यकता है जो मुक्ति का प्रधान साधन है। इसके लिए बुद्धि के दोषों को दूर करना होता है। बुद्धि के तीन दोष है—1. अविश्वास, 2. कामना, और 3. जडता। प्रथम अविश्वास जो संशयात्मक या विपर्ययात्मक भेद से दो तरह का होता है, जिसे शास्त्राधारित तर्क एवं श्रद्धा के आश्रय से हटाया जा सकता है। द्वितीय कामना है जिसे आशा का त्याग करके वैराग्य के द्वारा हटाया जायेगा। तृतीय है जडता, जिसका नाश परमात्मा की उपासना की शक्ति के अनुसार

होता है। जो सिद्धियों के चक्कर में पड़ते हैं वे आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। आत्मज्ञान के तीन स्तर हैं। उत्तम स्तर का साधक मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता है वह परमशक्ति से नित्य युक्ति ही चाहता है। इस प्रकार श्रीविद्या के उपदेश से यह गीता समस्त पापों का नाश करती हुई स्वात्मसाम्राज्य को प्रदान करके संसारान्धकार के समुद्र को पार करने में नौका तथा सूर्य के समान संसाररूपी अन्धकार को दूर करने में समर्थ है। अत: श्रीविद्यामन्त्रमहायोग के पाठकों के लिए इस दुर्लभ कृति का मूलपाठ सरल भावानुवाद के साथ प्रस्तुत है।

श्रीत्रिपुरादेवी का प्रकट होकर उपदेश रूप में इस गीता को प्रस्तुत किया गया है। वह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुरा वृत्तं शृणुष्व तत्। पुरा ब्रह्मसभामध्ये सत्यलोकेऽतिपावने।।1।।
ज्ञानप्रसङ्ग: समभूत् सूक्ष्मात् सूक्ष्मविमर्शनम्। सनकाद्या वसिष्ठश्च पुलस्त्य: पुलह: क्रतु:।।2।।
भृगुरत्रिरङ्गिराश्च प्रचेता नारदस्तथा। च्यवनो वामदेवश्च विश्वामित्रोऽथ गौतम:।।3।।
शुक्र: पराशरो व्यास: कण्व: काश्यप एव च। दक्ष: सुमन्तु: शङ्खश्च लिखितो देवलोऽपि च।।4।।
एवमन्ये ऋषिगणा राजर्षिप्रवरा अपि । सर्वे समुदितास्तत्र ब्रह्मसत्रे महत्तरे।।5।।
मीमांसां चक्रुरत्युच्चै सूक्ष्मात् सूक्ष्मनिरूपणै:। ब्रह्माणं तत्र पप्रच्छुर्ऋषय: सर्व एव ते।।6।।
भगवन् ज्ञानिनो लोके वयं ज्ञातपरावरा:। तेषां नो विविधा भाति स्थिति: प्रकृतिभेदत:।।7।।
केचित् सदा समाधिस्था: केचिन्मीमांसने रता:। अपरे भक्तिनिर्मग्नाश्चान्ये कर्मसमाश्रया:।।8।।
व्यवहारपरास्त्वेके बहिर्मुखनरा इव। तेषु श्रेयान् हि कतम एतन्नो वक्तुमर्हसि।।9।।
स्वस्वपक्षं वयं विद्म: श्रेयांसमिति वै विधे। इति पृष्टोऽवदद् ब्रह्मा मत्वाऽनाश्वस्तमानसान्।।0।।
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्वेद्मि सर्वात्मना तत:। जानीयादिमर्थन्तु सर्वज्ञ: परमेश्वर:।।11।।

श्रीदत्तात्रेय ने कहा—अब मैं तुम्हें एक पुरानी कहानी सुनाता हूँ, सुनो। पहले की बात है—एक बार परमपवित्र ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान की चर्चा चली। उसमें बारीक-से-बारीक विचार किया गया। उस महती ज्ञानगोष्ठी में सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अङ्गिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, कश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शङ्ख, लिखित, देवल और अनेक महर्षि तथा राजर्षिगण सम्मिलित हुए। ज्ञान का गहन प्रतिपादन करते हुए गम्भीर मीमांसा करने लगे। इसके बाद उन्होंने ब्रह्मा से पूछा—।।1-6।। भगवन्! संसार में हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं। कार्य और कारण सब तत्त्वों को हम जानने वाले हैं, किन्तु अलग-अलग स्वभाव के कारण हमारी स्थितियाँ भिन्न हैं।।7।। हममें से कुछ तो समाधि में लीन रहते हैं, कुछ विचार में लगे रहते हैं, कुछ भक्तिभाव में लगे रहते हैं और कुछ कर्म में निष्ठा रखने वाले हैं।।8।। कोई बहिर्मुख पुरुषों की तरह व्यवहार में लगे रहते हैं—इनमें श्रेष्ठ कौन है? यह हमें बतलाने की कृपा करें। ब्रह्मन्! हम लोग तो अपने पक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने समझा कि इन्हें मेरे प्रति सही श्रद्धा नहीं है। उन्होंने कहा—मुनियो! यह बात तो पूरी तरह मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो आप लोग भगवान् महेश्वर से ही पूछें। वहीं जाइये, वे सर्वज्ञ हैं; इसके बारे में वे जानते होंगे।।9-11।।

तत्र यामोऽर्थं सम्प्रष्टुमित्युक्त्वा तत्र तैर्ययो। सङ्गम्य देवदेवेशं विष्णुनाभिसमागत:।।12।।
पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां प्रश्नं तं लोकसृड् विधि:। प्रश्नं निशम्य च ज्ञात्वा विष्णुविधि: मनोगतम्।।13।।
मत्वाऽनाश्वस्तमनसा ऋषीन् देवो व्यचिन्तयत्। किञ्चिदुक्तं मयाऽत्रापि व्यर्थमेव भवेन्न तु।।14।।

स्वपक्षत्वेन जानीयुर्ऋषयः श्रद्धया युताः। इति मत्वा प्रत्युवाच देवदेवो महेश्वरः।।15।।
शृणुध्वं मुनयो नाऽहमप्येतद्वेद्मि सुस्फुटम्। अतो विद्यां भगवतीं ध्यायामः परमेश्वरीम्।।16।।
तत्प्रसादान्निगूढार्थमपि विद्मस्ततः परम्। इत्युक्त्वा मुनयः सर्वे विधिविष्णुशिवैः सह।।17।।
दध्युर्विद्यां महेशानीं त्रिपुरां चिच्छरीरिणीम्। एवं सर्वेरभिध्याता त्रिपुरा चिच्छरीरिणी।।18।।
आविरासीच्चिदाकाशमयी शब्दमयी परा। अभवन्मेघगम्भीरनिःस्वनो गगनाङ्गणे।।19।।
वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम्। मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताऽभिवाञ्छितम्।।20।।

चलें, हम लोग वहीं चलें। ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबके साथ शिवलोक पहुँचें। भगवान् विष्णु भी वहाँ मौजूद थे। सबके साथ महादेव से मिलकर ब्रह्माजी ने यही प्रश्न पूछा। प्रश्न सुनकर महादेवजी ने ब्रह्मा और विष्णु के मन का भाव ताड़ लिया। उन्होंने सोचा ऋषियों के मन में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें कुछ भी समझाना तो बेकार ही होगा। इन्हें जो कुछ कहा जायेगा, उसे ये मेरे ही पक्ष की बात मानेंगे। ऐसा सोचकर देवाधिदेव महादेव ने कहा—मुनियो! आपने जो पूछा है, उसे साफ-साफ तो मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो हम सब मिलकर भगवती विद्यादेवी का ध्यान करें। फिर तो उनकी कृपा से गूढ़-से-गूढ़ रहस्य भी हम आसानी से जान सकते हैं। महादेव के ऐसा कहने पर ब्रह्मा विष्णु सहित मुनियों ने चित्स्वरूपा त्रिपुरा का ध्यान करना शुरू किया। इस तरह सबके मिलकर ध्यान करने पर चिदाकाशमयी शब्दस्वरूपा विद्यादेवी त्रिपुरा इनके सामने साकार प्रकट हुई। तब आकाश में मेघगर्जन की तरह उनकी आवाज गूँज उठी—ऋषियो! बतलाओ, तुमने मेरा ध्यान किसलिए किया है? शीघ्र ही अपनी अभिलाषा बतलाओ। मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती।।12-20।।

इति श्रुत्वा परां वाणीं प्रणेमुर्मुनिपुङ्गवाः। ब्रह्मादयोऽपि तदनु तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः।।21।।
अथ प्रोचुर्ऋषिगणा विद्यां तां त्रिपुरेश्वरीम्। नमस्तुभ्यं महेशानि श्रीविद्ये त्रिपुरेश्वरि।।22।।
अशेषोत्पादयित्री त्वं स्थापयित्री निजात्मनि। विलापयित्री सर्वस्य परमेश्वरि ते नमः।।23।।
अनूतना सर्वदाऽसि यतो नास्ति जनिस्तव। नवात्मिका सदा त्वं वै यतो नास्ति जरा तव।।24।।
सर्वासि सर्वसारासि सर्वज्ञा सर्वहर्षिणी। असर्वाऽसर्वगाऽसाराऽसर्वज्ञाऽसर्वहर्षिणी।।25।।
देवि भूयो नमस्तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतोऽपि च। अधस्तादूर्ध्वतः पार्श्वे सर्वतस्ते नमो नमः।।26।।
ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च। फलं तस्माद् धनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च।।27।।
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च। देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि भूयस्तुभ्यं नमो नमः।।28।।
इत्यापृष्टा महाविद्या प्रवक्तुमुपचक्रमे। दयमाना ऋषिगणे स्पष्टार्थं परमं वचः।।29।।
शृणुध्वमृषयः सर्वे प्रवक्ष्यामि क्रमेण तत्। अमृतं ह्यगमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः।।30।।

चार प्रकार की वाणियों में सबसे पहली परा वाणी सुनकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने भी प्रणाम किया। फिर सभी ने मिलकर उनकी अनेक वन्दनाएँ कीं।।21।। विद्यादेवी उस त्रिपुरेश्वरी को फिर ऋषियों ने कहा—हे महेश्वरि! श्रीविद्ये! त्रिपुरेश्वरि! आपको हमारा अनेक नमस्कार है।।22।। हे परमेश्वरी! आपने अपने में ही इस सारी दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि को समाहित कर रखा है। आपको हमारा अनेकशः प्रणाम है।।23।। आपका कभी जन्म नहीं होता, इसलिए आप सदा ही पुरानी हैं। आपमें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं, अतः आप चिरनवीना है।।24।। आप ही सब हैं, आप ही सबकी जड़ हैं, आप सब कुछ जानती हैं तथा आप ही

सबको खुश करने वाली हैं। किन्तु आपके स्वरूप में सब तो है ही नहीं, अत: आप सर्वशून्या हैं। आप सबसे अलग हैं, आप कुछ नहीं जानती हैं और न किसी को खुश करने वाली हैं।।25।। देवि! आपको हमारा बार-बार प्रणाम है। आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से बार-बार प्रणाम है।।26।। आपका जो दूसरा रूप है, जो विभूति है, जो ज्ञान है; उसकी जानकारी का जो फल है, उसे जानने का जो प्रमुख साधन है; इसके जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धि की चरमसीमा है और सिद्धों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं—इनके बारे में आप हमें बतलाये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं।।27-28।। इस तरह ऋषियों के पूछने पर देवी त्रिपुरा को दया आ गई। उन्होंने सन्देहरहित बड़ी मीठी आवाज में उन्हें समझाना शुरू किया।।29।। ऋषियों आप सुनें, मैं सिलसिलेवार ढङ्ग से आपको सारी बातें समझा देती हूँ। वेद और तन्त्रशास्त्ररूपी समुद्र से अमृत निकालकर आपको देती हूँ।।30।।

यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत्। उत्पन्नश्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा।।31।।
यदेव जगदाकारं भासतेऽविदितात्मनाम्। यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम्।।32।।
गम्भीरस्तिमिताम्भोधिरिव निश्चलभासनम्। यत् सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।।33।।
स्वभावस्थं स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वोदयं पदम्। विभेदभासमारुह्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।।34।।
अक्षान्त:करणादीनां प्राणसूत्रं यदान्तरम्। यदभानेन किञ्चित् स्याद् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम्।।35।।
परा सा प्रतिभा देव्या: परं रूपं मयेरितम्। ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूद्र्ध्वे सुधाम्बुधौ।।36।।
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे। पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम्।।37।।
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यम् ऋषीश्वरा:। तथा सदाशिवेशानौ विधिविष्णुत्रिलोचना:।।38।।
गणेशस्कन्ददिक्पाला: शक्तयो गणदेवता:। यातुधाना: सुरा नागा यक्षकिम्पुरुषादय:।।39।।
पूज्या: सर्वा मम तनूरपरा: परिकीर्त्तिता:। मम मायाविमूढास्तु मां न जानन्ति सर्वत:।।40।।
पूजिता ह्येव सर्वैस्तैर्ददामि फलमीहितम्। न मत्तोऽन्या काचिदस्ति पूज्या वा फलदायिनी।।41।।

जहाँ यह सारी दुनिया दर्पण में परछाईं की तरह सबको हमेशा जनमती, टिकती और मिटती दीखती है; नासमझों को यह संसार के रूप में दिखलाई देती है और योगियों को यह बिल्कुल स्थिर दीख पड़ती है। अपने स्वरूप में जो गम्भीर और शान्त समुद्र की तरह अचल-अडिग स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण इस आत्मपद को अद्वैत रूप से जानते हैं। फिर भी अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण उपास्य और उपासक के रूप में द्वैतभाव की कल्पना कर अत्यन्त तत्पर हो निश्चल भाव से उस परम आत्मपद का सेवन करते हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण के बीच वह प्राणरूपी अन्त:सूत्र है। इसके स्फुरित न होने पर कुछ भी नहीं रहता। यह केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है। यह परमप्रकाश ही मेरा पररूप कहा गया है।।31-35।। अनेक ब्रह्माण्डों से बिलकुल अलग-अलग बहुत दूर एक सुधासागर है। उसमें मणियों का एक टापू है। उस टापू पर एक कदम्ब का वन है। उस वन में चिन्तामणियों का एक मन्दिर है। उस मन्दिर में 'पञ्चब्रह्ममय' एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरासुन्दरी की भव्य मूर्ति विराजित है। वही मेरा अपर स्वरूप है। इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिग्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष, किन्नर प्रभृति जो लोक में पूज्य हैं, सब मेरे ही दूसरे रूप हैं। इन सभी रूपों में मैं ही हूँ, किन्तु मेरी ही माया से मोहित पुरुष मुझे ही नहीं पहचानते हैं। ऊपर वर्णित रूपों की उपासना से प्रसन्न होकर उपासक को मैं ही मनवांछित फल देती हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य मूर्ति न पूज्य है और न अभीष्ट फलदायिनी है।।36-41।।

यथा यो मां भावयति फलं मत् प्राप्नुयात्तथा। ममैश्वर्यमृषिगणा अपरिच्छिन्नमीरितम्।।42।।
अनपेक्ष्यैव यत् किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी। स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवा:।।43।।
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपु:। एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम्।।44।।
ममैश्वर्यन्तु ऋषय: पश्यध्व सूक्ष्मया दृशा। सर्वाश्रया सर्वगता चाप्यहं केवला चिति:।।45।।
स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम्। भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरो: शिष्यपदं गता।।46।।
नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम्। निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम्।।47।।
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्परा:। न तद् गणयितुं शक्यं सहस्रवदनेन वा।।48।।
शृण्वन्तु सङ्ग्रहाद्वक्ष्ये मदैश्वर्यस्य लेशत:। जगद्धात्रा विचित्रेयं सर्वत: सम्प्रसारिता।।49।।
ममाज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदत:। परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत् फलम्।।50।।

ऋषियों! मेरी विभूति नि:सीम है। मुझमें जिसकी भावना जैसी रहती है, उसे वैसा ही फल मिलता है।।42।। मुनिवरो! मैं अकेली हूँ, चिन्मयी हूँ। किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा किये बिना संसार के रूप में दीखती हूँ।।43।। दुनिया के रूप में दीखने के बावजूद मैं अपने इस अतुलनीय चिन्मय रूप को छोड़ नहीं सकती। असंभव को भी संभव कर देने वाला मेरा यही ऐश्वर्य है।।44।। ऋषियो! आप लोग जरा गहरी निगाह से मेरे प्रभुत्व की ओर देखें। मैं सबका आधार हूँ, सबका अनुगत हूँ, फिर भी केवल चिन्मात्र हूँ।।45।। अपनी माया से अपने को ही न जानकर मैं बहुत दिनों से जन्म-मरण रूप संसारचक्र में पड़ी हुई हूँ। फिर गुरुदेव का शिष्यत्व कबूल करती हूँ। उसके प्रभाव से नित्यमुक्त होकर भी बार-बार मुक्त होती हूँ। फिर किसी साधन-सामग्री के बिना ही ऐसी दुनिया रच डालती हूँ।।46-47।। मेरे ऐश्वर्य की ऐसी ही अनन्त परम्पराएँ हैं, जिसे हमारों फनवाले शेषनाग भी नहीं गिन सकते।।48।। सुनिए! संक्षेप में बतलाती हूँ, मेरे ऐश्वर्य के एक कण से यह अनोखा लोक व्यवहार चारों ओर फैला हुआ है।।49।। द्वैत-अद्वैत के भेद से मेरा ज्ञान भी अनेक तरह का है। उसके फल भी पर और अपर भेद से अनेक तरह के हैं।।50।।

द्वैतज्ञानन्तु विविधं द्वितीयालम्बनं यत:। ध्यानमेव तु तत्प्रोक्तं स्वप्नराज्यादिसम्मितम्।।51।।
तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यत:। अपरश्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि।।52।।
प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम्। अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम्।।53।।
मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम्। कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम्।।54।।
तदेवाद्वैतविज्ञानं केवला या परा चिति:। तस्या: शुद्धदशामर्शो द्वैतामर्शाभिभावक:।।55।।
चित्तं यदा स्वमात्मानं केवलं ह्यभिसम्पतेत्। तदेवानुविभातं स्याद् विज्ञानमृषिसत्तमा:।।56।।
श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम्। देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्यते।।57।।
तदेव भवति ज्ञानं यज्ज्ञानेन तु किञ्चन। भासमानमपि क्वापि न विभायात् कथञ्चन।।58।।
तदेवाद्वैतविज्ञानं यद्विज्ञानेन किञ्चन। अविज्ञातं नैव भवेत् कदाचिल्लेशतोऽपि च।।59।।
सर्वविज्ञानात्मरूपं यद्विज्ञानं भवेत् खलु। तदेवाद्वैतविज्ञानं परमं तापसोत्तमा:।।60।।

द्वैतज्ञान अनेक तरह के हैं। इनका आधार कोई दूसरा होता है। उसे ध्यान भी कहा जाता है। यह सपने और मानसिक बहाव की तरह होते हैं।।51।। किन्तु मनोराज्य की तरह होने पर भी उसे फलदायक ही समझना चाहिए, क्योंकि नियति का विधान ऐसा ही है। अपर ज्ञान अनेक हैं, परन्तु उनमें प्रमुखता इसी की है।।52।। ऊपर बतलाया

गया ध्यान उत्कृष्ट ब्रह्म का है। इनका प्रमुख फल मुक्ति है। मुक्ति का यह परम्परागत साधन है। पर ज्ञान को तो अद्वैत ज्ञान ही कहा गया है।।53।। मैं ही तो परम उत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ। मेरी लम्बी आराधना किये बिना कोई अद्वैत नाम वाली इस पराविद्या को कैसे पा सकता है?।।54।। जो सच्ची चित्-शक्ति है, वही विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसके सच्चे स्वरूप का विचार ही आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने वाला है।।55।। जिस समय आदमी का मन अपनी आत्मा के स्वरूप की ओर लगता है, उसी समय उस विशुद्ध विज्ञान का साक्षात्कार होता है।।56।। वेद से, उचित विचार से आत्मा की अनुभूति होना और देह आदि में आत्मभाव की कमी हो जाना भी तो ज्ञान ही कहलाता है।।57।। असली अद्वैत ज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर दिखलायी देने वाली वस्तु भी कभी नहीं दीखती।।58।। सच्चा ब्रह्मज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर फिर कभी कुछ भी अनजान नहीं रह जाता है।।59।। हे तापसो! जिस ज्ञान से सभी ज्ञान आत्मरूप हो जाते हैं, वास्तव में वही ज्ञान अद्वैत विज्ञान है।।60।।

जाते यादृशविज्ञाने संशयाश्चिरसम्भृता:। वायुनेवाभ्रजालानि विलीयन्ते परं हि तत्।।61।।
कामादिवासना: सर्वा यस्मिन् सन्ति न किञ्चन। स्युर्भग्नदंष्ट्राहिरिव तद्विज्ञानं परं स्मृतम्।।62।।
विज्ञानस्य फलं सर्वदु:खानां विलयो भवेत्। अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम्।।63।।
भयं द्वितीयसङ्कल्पादद्वैते विदिते दृढम्। कुत: स्याद् द्वैतसङ्कल्पस्तम: सूर्योदये यथा।।64।।
ऋषयो न भयं क्वापि द्वैतसङ्कल्पवर्जने। अतो यत् फलमन्यत् स्यात् तद्भयं सर्वथा भवेत्।।65।।
अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात्। सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत्।।66।।
संयोगो विप्रयोगान्त: सर्वथैव विभावित:। फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चय:।।67।।
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम्। तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते।।68।।
यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्ष: प्रकीर्त्तित:। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं सदा भवेत्।।69।।
तदा हि परमो मोक्ष: सर्वभीतिविवर्जित:। ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम्।।70।।

ऐसा विशिष्ट ज्ञान मिल जाने पर चिरपोषित सभी संशय उसी तरह खत्म हो जाते हैं जैसे हवा के झोंके से आकाश में मेघजाल विनष्ट हो जाते हैं। इसी ज्ञान को पराविज्ञान कहा गया है।।61।। जिस ज्ञान के मिल जाने पर काम प्रभृति समस्त वासनाएँ स्वत: मिट जाती है, अगर कुछ बची-खुची रह भी जाती हैं तो वह दाँत तोड़े साँप की तरह बेकार ही होती है। यही पर-विज्ञान है।।62।। इस विज्ञान की उपलब्धि समस्त दु:खों से छुटकारा और पूरी निर्भयता है। इसे ही पर-विज्ञान माना गया है।।63।। डर तो किसी दूसरे को पाने का पक्का इरादा करने पर ही होता है या फिर किसी दूसरे के अस्तित्व से होता है। जहाँ अद्वैत ज्ञान मजबूत है वहाँ फिर द्वैत का संकल्प ही नहीं हो सकता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं होता।।64।। ऋषियो! आत्मा और परमात्मा का भेद छूट जाने पर डर तो रहता ही नहीं है। इसलिए जो फल आत्मा के रूप से अलग होगा वह सब तरह से भय रूप ही होगा।।65।। अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि ऐसा ही इस संसार में देखा जाता है। नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है। अत: उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है?।।66।। हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है। अत: यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है।।67।। अत: आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछुड़ने का डर तो रहता ही है। आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है। यहाँ आकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है।।68-69।।

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है। इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।।70।।

ज्ञातु: स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम्। उपदेशक एवातो गुरु: शास्त्रं च नेतरत्।।71।।
एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते। ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते।।72।।
तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित्। यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथ: स्थित:।।73।।
तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम्। ज्ञात्रादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत्।।74।।
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं भेदस्तत्र प्रकल्पित:। अत: पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन।।75।।
आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना। यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपम:।।76।।
यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भेदविवर्जितम्। संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना।।77।।
एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम्। तत्परत्वे तु सम्पूर्णे नान्यत् साधनमिष्यते।।78।।
अपूर्णे तत्परत्वे तु किं सहस्रसुसाधनै:। तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम्।।79।।
तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थिति:। यस्तात्पर्येण संयुक्त: सर्वथा मुक्त एव स:।।80।।

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं।।71।। ज्ञेय का यही स्वरूप है। जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक वे कुछ नहीं हैं। जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यहीं इस ज्ञान का फल भी माना गया है। यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अत: भेदकल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं।।72-75।। सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है।।76।। किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है।।77।। इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है।।78।। यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अत: तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है।।79।। "जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा" इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है।।80।।

दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्त: स्याद्वाऽन्यजन्मनि। बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थिति:।।81।।
बुद्धौ तु बहवो दोषा: सन्ति सर्वार्थनाशना:। यैर्जना: सततं त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ।।82।।
तत्राद्य: स्यादनाश्वासो द्वितीय: कामवासना। तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसङ्ग्रह:।।83।।
द्विविध: स्यादनाश्वास: संशयश्च विपर्यय:। मोक्षेऽस्ति नास्ति वेत्याद्य: संशय: समुदाहृत:।।84।।
नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्यय:। एतद् द्वयन्तु तात्पर्ये मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम्।।85।।
विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात्। अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापर:।।86।।
अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम्। तत्परित्यज्य सत्तर्कावर्त्तनस्य प्रसाधने।।87।।

विपरीतो निश्चय: स्यान्मूलच्छेदनपूर्वक:। तत: श्रद्धासमुदयादनाश्वास: प्रणश्यति।।88।।
कामादिवासना बुद्धे: श्रवणे प्रतिबन्धिका। कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्त्तते।।89।।
लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्पर:। पुर:स्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च।।90।।

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों से मुक्त हो ही जायेंगे। बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए।।81।। बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है। इसी बुद्धि के वात्याचक्र में फँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते रहते हैं।।82।। इनका पहला दोष है—अविश्वास। दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा दोष है—जड़ता। मुख्यत: इसके ये तीन दोष हैं।।83।। अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय। मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं? यह पहला संशयदोष है।।84।। मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है। ये दोनों ही तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं।।85।। इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं। किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं।।86।। अविश्वास का मूल कारण है—शास्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा। इसे छोड़कर यदि शास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है। श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वत: मिट जायेगा।।87-88।। कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालने वाली होती है। क्योंकि जिस बुद्धि में कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है।।89।। लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है।।90।।

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम्। कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा।।91।।
सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रश:। तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन।।92।।
ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम्। आशा हि काम: सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता।।93।।
शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता। दृढवैराग्ययोगेन सर्वां तां प्रविनाशयेत्।।94।।
तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्श: प्रतिक्षणम्। वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति।।95।।
यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थित:। असाध्य: सोऽभ्यासमुखै: सर्वथा ऋषिसत्तमा:।।96।।
येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत्। तज्जाड्यं हि महान् दोष: पुरुषार्थविनाशन:।।97।।
तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्धि कारणम्। सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम्।।98।।
जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि। भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतस:।।99।।
सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानत:। उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात्।।100।।
स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत्। यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम्।।101।।
अनादृत्य साधनैकपर: स्यान्मूढभावत:। पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा।।102।।

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनसुनी कर देता है। ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए।।91।। काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है। इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वत: मिट जाती है।।92।। अत: विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए। आशा का ही दूसरा नाम काम है। मनुष्य के मन में—'मुझे यह मिल जाय'

इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है।।93।। जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है। ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए। ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना। विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है।।95।। मुनियो! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता। इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है।।96।। इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पातीं। मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है।।97।। इससे छुटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। साधक की उपासना के अनुसार कम या अधिक उसकी जड़ता मैं दूर करती हूँ।।98।। जड़ चित्त वाले साधक को उसकी कम या अधिक जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है।।99।। हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है। जो हमेशा निश्छल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विघ्नों को पार कर निहाल हो जाता है। इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ। अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है। उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है।।101-102।।

तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत्। एवं तात्पर्यवानेव साधक: परम: स्मृत:।।103।।
तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधक: सर्वपूजित:। सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना।।104।।
आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम्। तदभावनमात्रश्च सिद्धिमौढ्यविवर्जितम्।।105।।
आत्मा व्यवसित: सर्वैरपि नो केवलात्मना। अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा।।106।।
तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम्। तन्मात्रात्मव्यवसिति: सर्वसंशयनाशिनी।।107।।
सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नात: सिद्धिरनन्तरा। सिद्धय: खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च।।108।।
आत्माविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम्। ता: सर्वास्तु परिच्छिन्ना: सिद्धयो देशकालत:।।109।।
इयं स्यादपरिच्छिन्ना: स्वात्मविद्या शिवात्मिका। स्वात्मविद्यासाधनेषु ता: सर्वा: सुप्रतिष्ठिता:।।110।।

अत: हे तापसो! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अत: तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है। इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है। देह की आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है। देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है।।104-105।। 'मैं कौन हूँ?' इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है।।106।। अत: यह विशुद्ध चिति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देहों को मिटा देना है। इसी स्थिति को विज्ञजनों ने सिद्धि कहा है। इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं है।।107-108।। ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं। अत: ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।।109।। यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है। ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती है।।110।।

आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजका:। किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम्।।111।।
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम्। कियन्त्येता: सिद्धयो वे कालक्षपणहेतव:।।112।।
तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धित:। ययाऽत्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता।।113।।

सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युग्रासविमोचिनी। इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदत:।।114।।
बुद्धिनैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदत:। सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा।।115।।
लोके द्विजानामृषय: पठिता श्रुतिसम्मिता। मेधया च महाभ्यासाद् व्यापारशतसङ्कुला।।116।।
अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा। समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा।।117।।
पूर्ववद्याऽप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुति:। या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा।।118।।
पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा। एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षय:।।119।।
या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने। अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धित:।।120।।
अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा। अत्रोत्तमैव संसिद्धे: पराकाष्ठा निरूपिता।।121।।

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालने वाली है। भला जिज्ञासुओं को जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है?।।111।। जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है?।।112।। अत: आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है।।113।। यही सिद्धि काल के गाल से भी बचाने वाली है। अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है। किन्तु लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम। बुद्धि की प्रखरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, यह उत्तम श्रुति है। पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सकें, वह मध्यम श्रुति है। जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है। मुनियो! इसत तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है। जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा आत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या अधिक भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है। इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है।।114-121।।

स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थिति:। विचारक्षणतुल्येव सिद्धि: सा परमोत्तमा।।122।।
सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधत:। यदा प्रवृत्तिसिद्धे: सा पराकाष्ठा समीरिता।।123।।
अयत्नेनैव परमे स्थिति: संवेदनात्मनि। अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता।।124।।
व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति। द्वैतं तदा हि सा सिद्धि: पूर्णतामभिसङ्गता।।125।।
जागरादौ व्यवहरन्नपि निद्रितवद्यदा। स्थितिस्तदा हि सा सिद्धि: पूर्णतामभिसङ्गता।।126।।
एवं सिद्धिमनुप्राप्त: सिद्धेषूत्तम उच्यते। व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति।।127।।
कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मत:। ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा।।128।।
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मत:। संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशत:।।129।।
निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मत:। सर्वं सुखञ्च दु:खञ्च व्यवहारञ्च जागतम्।।130।।
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मत:। अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति।।131।।
य: स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मत:। य: पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम्।।132।।

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः। सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित्।।133।।
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया। एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते।।134।।

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है।।122।। जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर रुचि जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं।।123।। बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है।।124।। कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है। जगे रहने पर कामकाज करते समय जब निद्रित की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए। ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है। लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है। अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है। जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है। सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है। अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है। समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है। अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ। मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है। मुनियो! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया। मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं।।125-134।।

इत्युक्ता सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह। श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च।।135।।
नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्। विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापौघनाशिनी।।136।।
श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी। विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता।।137।।
पठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम्। संसारतिमिराम्भोधौ मज्जतां तरणिर्भवेत्।।138।।

हे परशुराम! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई। उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया। शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये। यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करने वाली विद्यागीता सुनायी। इस पर यदि ठीक तरह से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय। प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीता है। जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं। इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबने वालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है।।135-138।।

विशेष—इस श्लोक (138) में 'तरणि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है। कोषगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है। यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा अन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का श्लिष्ट प्रयोग सूपयुक्त है।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः सम्पूर्णः।